हिन्दी-कवि-समीक्षा

सम्पादक
डा० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट्
प्रो० विजयेन्द्र स्नातक एम० ए०

प्रकाशक
मेहरचंद्र लक्ष्मणदास
गली नन्हेखां, कूचा चेलां,
दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण   १६५०   मूल्य ३॥।)

भूमिका

'हिंदी-कवि-समीक्षा' नामक यह संकलन हिन्दी-साहित्य के आदि-काल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल के प्रमुख कवियों का आलोचनात्मक विश्लेषण उपस्थित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। उच्च कक्षाओ मे जिन कवियों की रचनाएँ पढ़ाई जाती है उनकी काव्य-शैली, भाषा, भाव तथा काव्य-उपकरणों की संक्षिप्त किन्तु पूर्ण समीक्षा प्रस्तुत करने वाली कदाचित् यह पहली पुस्तक है। हमारा प्रयत्न यह रहा है कि इसमे हिन्दी-साहित्य के उन सभी आलोचको की रचनाएँ संकलित हो जिनका समालोचना-क्षेत्र मे सम्मान्य स्थान है। एक ही लेखक की रचनाएँ संकलित करने से छात्रो के सम्मुख विभिन्न विद्वानो का दृष्टिकोण उपस्थित नही होता।

जिन विद्वान् लेखकों ने कृपा कर अपने निबंध इस संकलन में रखने की आज्ञा दी है हम उन सबका हृदय से धन्यवाद करते है। आशा है जिज्ञासु छात्रो को इस संकलन द्वारा कवियो का आलोचनात्मक परिचय प्राप्त करने का पूरा सुयोग प्राप्त होगा।

—सम्पादक

विषय-सूची

मे सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि क्या वास्तव मे पृथ्वीराज-रासो १२ वीं सदी में चन्दबरदाई ने लिखा है। आइए, इस पर विस्तार के साथ विचार करे।

ईस्वी सन् १८७५ मे प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता डाक्टर बूलर को कश्मीर में संस्कृत ग्रन्थों की खोज करते समय (जयानक कविरचित) "पृथ्वीराजविजय महाकाव्य" की भोजपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन अपूर्ण प्रति मिली थी। उस पर द्वितीय राजतरंगिणी के कर्ता जोनराज की टीका भी है। इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् उक्त विद्वान् ने ऐशियाटिक सोसाइटी, बंगाल को निम्नलिखित आशय का पत्र लिखा था—

"पृथ्वीराजविजय का कर्ता निःसन्देह पृथ्वीराज का समकालीन और उसका राजकवि था। वह संभवतः कश्मीरी था। उसका लिखा हुआ चौहानों का वृत्तान्त चन्द के लिखे हुए विवरण के विरुद्ध है और विक्रम संवत् १०३० तथा विक्रम संवत् १२२३ के शिलालेखों से मिल जाता है। "पृथ्वीराजविजय महाकाव्य" मे पृथ्वीराज की जो वंशावली दी हुई है वही उक्त लेखों मे भी मिलती है, और उसमे लिखी हुई घटनाएँ दूसरे साधनों अर्थात् मालवे और गुजरात के शिलालेखों से मिल जाती है। उक्त पुस्तक मे पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के विषय मे लिखा है—उसका पिता अर्णोराज और उसकी माता गुजरात के सुप्रसिद्ध राजा जयसिह की पुत्री काँचनदेवी थी। अर्णोराज की पहली रानी सुधवा से, जो मारवाड़ की राजकन्या थी, दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमे से बड़े का नाम किसी ग्रन्थ या

उसके कर्ता का समय १२२५ और १२४६ के मध्य मे मानते है।

रासो तथा पृथ्वीराजविजय महाकाव्य मे वर्णित घटनाओं मे परस्पर इतना अधिक भेद है कि दोनों ग्रंथों को पृथ्वीराज के समय बना हुआ मानने में कठिनता होती है। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा रासो की विवेचना करने के उपरान्त निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते हैं—

पृथ्वीराजरासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। उसमे चौहानों, प्रतिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि सम्बंधी कथाएँ, तथा बहुत-सी घटनाओं के संवत् प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामंतों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित है। कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उक्त बृहत् काव्य की रचना की गई है। यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय लिखा गया होता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असंभव था। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल ही की विशेषता है। आज की डिंगल मे भी ऐसा आभास मिलता है, जिसका बीसवीं सदी मे बना हुआ वंश-भास्कर प्रत्यक्ष उदाहरण है। रासो की भाषा में फारसी शब्दों की बहुलता भी उसके प्राचीन होने मे बाधक है। वस्तुतः रासो वि० सं० १६०० के आसपास लिखा गया है। वि० सं० १५१७ की

प्रशस्ति मे रासो की घटनाओं का उल्लेख नहीं है और रासो की सब से पुरानी प्रति वि० सं० १६४२ की मिली है, जिसके बाद यह ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि वि० सं० १७३२ की राजप्रशस्ति मे रासो का स्पष्ट उल्लेख है। यह भी नही कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराजरासो का मूल ग्रंथ उसके वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था, परन्तु पीछे से बढ़ाया गया है, क्योंकि आज से १८५ वर्ष पूर्व उसी के कवि जदुनाथ ने उसका १०५००० श्लोकों का होना लिखा है। रासो की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए जो दूसरी युक्तियाँ दी जाती हैं, वह भी निराधार ही है। अनंद विक्रम संवत् की कल्पना तो बिल्कुल निराधार और व्यर्थ है।

इस ग्रंथ के प्रसिद्धि में आने के कारण राजपूताने के इतिहास मे बहुत अशुद्धि हुई। उदयपुर, जोधपुर, जयपुर आदि राज्यों की ख्यातों के लिखने वालों ने रासो के संवत् को शुद्ध मान कर वहाँ के कई पुराने राजाओं के संवत् मनमाने झूठे धर दिये। निष्पक्ष होकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि रासो वि० सं० १६०० से पूर्व का बना हुआ नहीं है और न वह ऐतिहासिक ग्रंथ है॥

उक्त संदर्भों से ज्ञात हो गया होगा कि रासो के निर्माण-काल के विषय में अनेक मतभेद हैं। ग्रन्थ की विशालता तथा भाषा की कठिनता के कारण इसकी समालोचनात्मक विवेचना कठिन है। साहित्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्व का है। इसकी वर्णन-शैली ओजस्विनी तथा स्वाभाविक है। उदाहरण—

धपी सेन सुरतान, मुट्ठि छुट्ठि चावद्दिसि।
मनुकपाट उद्धरयो, कूह फुट्टिय दिसि विद्दिसि॥
मार मार मुष-किन्न, लिन्न चावण्ड उपारे।
परे सेन सुरतान, जाम इक्कह परिधारे॥
गल वत्थ घत्त गाढो ग्रहौ, जानि सनेही भिंटयौ।
चामण्डराइ करिवर कहर, गौरी दलबल कुट्टयौ॥

उपर्युक्त पद्यों में चामण्डराव के युद्ध का वर्णन है। सुल्तान की सेना तृप्त हो गई, चारों दिशाओं से मूठ छूट गई और चारों तरफ चामण्डराव ने मारना आरंभ कर दिया। इससे इतिकर्त्तव्यता विमूढ़ हो गई। दिशा-विदिशाओं मे ऐसी कूह पड़ी कि मानो केवाड़ा की चीत्कार हो। चामण्डराव मुँह से मार-मार करता था और मस्तकों को काटता जाता था। मिलते ही गल-वस्त्र को ऐसा पकड़ता कि मानों कोई बड़ा स्नेही मिला हो। चामण्डरावरूपी हाथी ने गौरी की सेना मे कहर मचा दी इत्यादि।

उपर्युक्त वर्णन से रासो की कठिनता का केवल आभास मिलता है। उसकी कविता के मार्मिक विवेचन के लिए डिंगल भाषा पर आधिपत्य अपेक्षित है।

सम्पादकीय टिप्पणी—

विद्वान् लेखक ने उपर्युक्त लेख में कविवर चन्दवरदाई तथा उनके विशालकाय काव्य 'पृथ्वीराजरासो' के विषय मे प्रामाणिक रूप से अपने विचार प्रकट किये है। 'पृथ्वीराज-रासो' की वर्तमान रूप मे प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का

विवाद आज हिन्दी-साहित्य में उतना उग्र नहीं है जितना अब से तीस वर्ष पहले था। वर्तमान युग की नवीन खोजों तथा प्रमाणों के आधार पर यह प्रायः सिद्ध ही हो गया है कि 'रासो' की लब्ध प्रतियाँ ज्यों की त्यों पृथ्वीराज के समकालीन कवि चन्द की नहीं हो सकती। अवश्य ही यथासमय इस ग्रन्थ में प्रक्षिप्तांश का समावेश होता रहा और तदनुसार इस ग्रन्थ का कलेवर भी विशाल रूप धारण करता गया।

रासो की प्रामाणिकता का विवेचन—

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक यह ग्रन्थ सर्वथा प्रामाणिक ऐतिहासिक रचना के रूप में स्वीकार किया जाता रहा किन्तु इधर कुछ समय से इसकी प्रामाणिकता व ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवाद उठ खड़ा हुआ है।

श्रीयुत महामहोपाध्याय श्यामलदास व श्रीयुत रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे विख्यात ऐतिहासिक विद्वानों ने अपने अनेक अकाट्य प्रमाणों द्वारा इसे अप्रामाणिक या संदिग्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ओझाजी के तर्कों का सार इस प्रकार है:—

(१) इसमें दिये गये संवत सर्वथा असत्य है क्योंकि इसमें पृथ्वीराज का जन्म ११५ में, दिल्ली में गोद आना ११२२ में और कन्नौज पर आक्रमण ११५१ में तथा शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में बताया गया है, किन्तु पृथ्वीराज के चार, जयचन्द के बारह और परमर्दिदेव के ६ प्राप्त शिलालेखों में

पृथ्वीराज का समय संवत् १२२४ से १२५८ तक का दिया हुआ है, फारसी की तवारीखों (इतिहासों) में भी शहाबुद्दीन का पृथ्वीराज पर आक्रमण संवत् १२४८ मे ही लिखा है।

(२) पृथ्वीराजरासो में दी गई घटनाएँ भी सर्वथा कपोल-कल्पित तथा असत्य है, क्योंकि हाँसी के शिलालेख और काश्मीरी कवि जयानक रचित 'पृथ्वीराजविजय' नामक संस्कृत महाकाव्य के आधार पर कहा जा सकता है कि न तो सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के राजा अनंगपाल की लड़की से हुआ था और न जयचन्द ही पृथ्वीराज का मोसेरा भाई था। इनका आपस मे किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न था। साथ ही पृथ्वीराज का अपने नाना के गोद जाना भी कल्पनामात्र है। इसके अतिरिक्त आबू के अग्निकुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति की कथा भी ऐतिहासिक नही कही जा सकती, क्योंकि चौहान, सोलंकी आदि राजपूत अपने आप को सूर्य या चन्द्रवंशी ही कहते है न कि अग्निवंशी। शहाबुद्दीन भी पृथ्वीराज के हाथों शब्दवेधी बाण से नहीं मारा गया था। इसी प्रकार और भी कई अनेतिहासिक घटनाएँ इस ग्रन्थ में भरी पड़ी है।

(३) इसमे दिये गये व्यक्तियों के नाम भी ठीक नहीं है, क्योंकि पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज की माता का नाम 'कमला देवी' दिया गया है किन्तु "पृथ्वीराजविजय" काव्य तथा शिलालेखों में उसका नाम 'कर्पूरदेवी' मिलता है।

(४) पृथ्वीराज से बहुत समय पश्चात् होने वाले चंगेज़खाँ, तैमूरलंग आदि अनेकों व्यक्तियों के नाम भी इसमे पाये जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ओझा जी ने पृथ्वीराजरासो को एक सर्वथा अप्रामाणिक सोलहवी शताब्दी में रचा हुआ 'भाट भणन्त' मात्र सिद्ध किया है।

ओझाजी के सिद्धान्तो का खण्डन—

इसके विपरीत अनेक विद्वानों ने उक्त युक्तियों का खण्डन कर पृथ्वीराजरासो को प्रामाणिक ठहराने का प्रयत्न किया। इन विद्वानो मे उदयपुर के मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या, काशी के श्री डा० श्यामसुन्दरदास बी० ए० और सोलन के महामहोपाध्याय राजगुरु श्री प० मथुराप्रसाद जी दीक्षित विशेष उल्लेखनीय है।

मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने संवतों के सम्बन्ध में बतलाया कि पृथ्वीराजरासो मे दिये गये संवतों मे सच्चे संवतो से लगभग ९०-९१ वर्षो का अन्तर पडता है, सो ऐसा जान-बूझ कर हुआ है क्योंकि—

> 'एकादस मै पंचदह, विक्रम साक अनद।
> तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिन्द'॥

उक्त दोहे मे 'अनंद' शब्द का अर्थ—अ=शून्य, नद=नौ अर्थात् नव्वे (वर्ष कम) किया गया है। किन्तु इस सम्बन्ध मे विचारणीय बात यह है कि—प्रथम तो 'अनंद' का अर्थ ९० हो नही सकता, फिर भी यदि 'वादीतोष न्याय' से यह अर्थ मान भी लिया जाय तो भी 'वर्ष' और 'कम' किन शब्दों के अर्थ है? केवल 'नव्वे' कहने से ही तो कुछ काम नही चल सकता और दूसरी बात यह है कि किसी प्रचलित संवत् मे से

नव्वे वर्ष कम क्यों किये जायँ ? 'नन्दों' के शूद्र राज्य के नव्वे वर्षों को भाटों ने द्वेपवश अपने संवत् में से निकाल दिया, यह कहना तो बड़ा ही हास्यास्पद है। क्योंकि एक तो आज तक ऐसा कभी हुआ नहीं, और दूसरे नंदों का राज्य विक्रम से पूर्व ही समाप्त हो चुका था, इसलिए उसके नव्वे वर्षों को विक्रम संवत् में से निकालने की कल्पना सर्वथा अमान्य ही है। साथ ही संवतों के अतिरिक्त अधिकांश घटनाएँ जो इतिहास-विरुद्ध भरी पड़ी हैं उनका कुछ भी सन्तोपजनक समाधान नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार डा० श्यामसुन्दरदास जी ने भी कोई बुद्धिग्राह्य अकाट्य तर्क रासो के पक्ष में उपस्थित नहीं किया। उनके कथन का सार भी यही है कि महाभारत और पुराणों की भाँति पृथ्वीराजरासो में भी समय-समय पर बहुत कुछ प्रक्षेप होता रहा अत. उसमें नवीन नाम व अनैतिहासिक घटनाएँ आ गई। असली व प्राचीन पृथ्वीराजरासो अवश्य पृथ्वीराज के समय में बना होगा।

रासो के विभिन्न चार रूपान्तर—

इधर कुछ दिनों से पृथ्वीराजरासो के चार विभिन्न निम्न रूपों की चर्चा चल रही है—

१. बृहत् रूपान्तर—

इसकी प्रतियाँ उदयपुर में है। नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण भी इसी रूपान्तर का है। इसमें कथा-प्रसंग और वर्णन-विस्तार सब से अधिक है। इसकी उपलब्ध सब से प्राचीन प्रति संवत् १७६० की है। श्री पं० मोतीलालजी मनो-

रिया इसी प्रति को सब से प्राचीन मानते हैं ।

२. मध्यम रूपान्तर—

अबोहर और पंजाब यूनिवर्सिटी के औरियन्टल कालेज-लाहौर–पुस्तकालय में सुरक्षित प्रतियाँ इस मध्यम रूपान्तर की है। सोलन के श्री महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाद जी दीक्षित ने इसके कुछ अंश का सम्यक् सपादन व भाष्य कर प्रकाशित भी करवाया। आपके कथनानुसार इसमे सात हजार ('आर्या' छन्द के हिसाब से) पाठ है। इसकी प्राचीनतम प्रति के लिए कहा जाता है कि वह संवत १६७३ की लिखी हुई है।

३. लघुरूपान्तर—

इसकी प्रतिलिपियाँ बीकानेर के अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय मे है।

४. लघुतम रूपान्तर—

इसकी केवल एक प्रति गुजरात के धारणोज गाँव से प्राप्त हुई।

इन सब मतमतान्तरों के अध्ययन के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि—

१ चूँकि पृथ्वीराजरासो मे पंजाबी भाषा का प्रभाव नही के बराबर है, राजस्थानी मुहावरो, लोकोक्तियो तथा केवल उसी प्रांत मे प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों का इतने प्रचुर परिमाण मे प्रयोग हुआ है कि चन्द पंजाबी और लाहौर के रहने वाले प्रतीत नहीं होते इसलिए वे जन्म-जात राजस्थान

के ही अधिक जचते हैं।

२. चूँकि रासो के पूर्वोक्त चार रूपान्तर प्राप्त हुए है, अनेक विद्वान लघु रूपान्तर को ही मूल-रासो मानते हैं; उधर श्री दीक्षित जी अपने उक्त मध्यम रूपान्तर को मूल और प्रामाणिक रासो बतलाते है। इस सम्बन्ध में वे एक विशेष रचना भी लिखने वाले हैं। जब तक इनमे से कोई भी पक्ष विज्ञ विवेचको के द्वारा प्रमाणित नही किया जाता तब तक पृथ्वीराजरासो की किसी भी प्रति या रूपान्तर को हम प्रामाणिक या असन्दिग्ध नही कह सकते। इसलिए इस विषय के विशेषज्ञों को शीघ्र सुनिश्चित परिणामों पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

३. चाहे इसे प्रामाणिक मानें या अप्रामाणिक, तेरहवीं शताब्दी का माने या सोलहवी का, कुछ भी हो इन सब मतभेदों के रहते हुए भी यह तो सर्वसम्मति से स्वीकृत सत्य सिद्धान्त है कि हिन्दी के सर्वप्रथम महाकाव्य के पद पर प्रतिष्ठित होने का सौभाग्य केवलमात्र पृथ्वीराजरासो को ही प्राप्त है। चन्दबरदाई हिन्दी के सर्वप्रथम महाकवि है। ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही उसका महत्त्व उपेक्षणीय हो किन्तु साहित्यिक दृष्टि से वह हमारी सरस्वती के भण्डार मे सर्वश्रेष्ठ रत्नों मे से है।

['हमारा हिन्दी साहित्य' मे उद्धृत]

रासो का प्रणेता—

एक प्रश्न जो 'रासो' की प्रामाणिकता से मुख्यरूप से सम्बद्ध है वह यह है कि इस ग्रन्थ का प्रणेता कौन है ? कहा जाता है कि

चन्द कवि जाति का भाट तथा सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन, उनका अनन्य सखा, सामन्त तथा राजकवि था। इस तथ्य की पुष्टि में जनश्रुति तथा सामान्य ऐतिहासिक कथाएँ ही प्रस्तुत की जाती हैं। शुद्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर इस तथ्य को सिद्ध करना भी कठिन होता है। कुछ ऐतिहासिक चन्दबरदाई को पृथ्वीराज का समकालीन स्वीकार नहीं करते। यहाँ तक कि संस्कृत के कवि जयानक ने अपने 'पृथ्वीराजविजय' नामक ग्रन्थ में चन्द कवि के राजकवि होने का उल्लेख नहीं किया। अवश्य ही उसके ग्रन्थ में 'पृथ्वीभट्ट' नामक एक कवि की चर्चा है। यदि चन्दबरदाई राजकवि होता तो जयानक उसका नामोल्लेख अवश्य करता।

दूसरी ओर कतिपय जैन-ग्रन्थों में हमें चन्दबरदाई के राजकवि होने का वर्णन दृष्टिगत होता है। जैन-ग्रन्थों की प्राचीनता में सन्देह किये बिना उनकी प्रामाणिकता भी स्वीकार करनी होती है। अतः 'पृथ्वीराजविजय' के विषय में यह मानकर सन्तोष करना पड़ता है कि उसकी जो प्रति उपलब्ध हुई है वह खंडित है। उसके आधार पर तथ्यों का अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता।

साथ ही कुछ लोग चन्दबरदाई के नामोल्लेख के अभाव को जयानक की प्रतिद्वन्द्विता का कारण भी मानते हैं। अथवा चन्दबरदाई, पृथ्वीराज का प्रमुख राजकवि न होकर सामान्य कवि रहा हो और उसकी चर्चा जयानक ने इसी कारण न की हो।

रासो का विषय—

पृथ्वीराजरासो ढाई हज़ार पृष्ठों का एक विशाल ग्रन्थ है। इसमे ६६ समय (सर्ग) है। प्राचीन समय के अपभ्रंश तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के प्रचलित प्रायः सभी छन्दों का इसमें प्रयोग है। जिस प्रकार संस्कृत-ग्रन्थ 'कादम्बरी' के विषय में प्रचलित है कि उसका उत्तरार्द्ध बाण के पुत्र ने लिखा उसी प्रकार रासो के विषय मे भी यह किम्वदन्ती है कि अपूर्ण प्रति अपने पुत्र जल्हण के हाथ मे देकर चन्दबरदाई युद्धक्षेत्र मे चले गये।

रासो मे प्रमुखरूप से चार विषय है। विवाह, युद्ध, आखेट और विलास। इन वर्णनों की प्रमुखता के कारण कवि ने राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति की सर्वथा उपेक्षा की है। राजनीतिक उथल-पुथल के उस संघर्षमय युग मे भी कवि का ध्यान इनकी ओर नही गया; यह कुछ कम आश्चर्य की बात नही। मुगलों के आक्रमण, उनका आतंक, विभीषिका आदि किसी भी विषय का कवि ने वर्णन नहीं किया। युद्धो का वर्णन भी केवल अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशसा के लिए अथवा किसी कन्या के अपहरण के प्रसग में हुआ है। युद्धो के वर्णन मे कवि की वृत्तियाँ अवश्य लीन हुई है। युद्धों की प्रधानता के कारण उस काल के ग्रन्थो को वीरकाव्य की संज्ञा दे दी गई है। रासो मे भी वीर रस की ही प्रमुखता है। वीर के साथ कही २ शृङ्गार तथा अन्य रसों का भी योग है। विलास-वर्णन, राजाओं की शृङ्गार-लीला, रूप-वर्णन आदि ऐसे विषय

हैं जिनमे शृङ्गार को ही कवि ने चित्रित किया है।

'रासो' शब्द का अर्थ—

रासो शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ के विषय मे भी विद्वानों मे पर्याप्त मतभेद है। विभिन्न विद्वान विभिन्न स्रोतों से इस शब्द का विकास मानते है। फ्रेंच लेखक गार्सां दॅतॉसी ने 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से मानी है। मिश्रबन्धुओं ने 'रहस्य' शब्द को रासो का रूप दिया है। आचार्य शुक्लजी ने रसायण शब्द को रासो का बीज स्वीकार किया है। राजस्थानी भाषा के विद्वान रासो शब्द का मूल 'रासक' कहते है। इस 'रासक' शब्द का ही रूपान्तर अपभ्रंश तथा राजस्थानी भाषा मे 'रासउ' हुआ, कुछ लोगों के विचार से यह 'रासउ' ही रासो बन गया। प्राचीन राजस्थानी में 'रासक' शब्द का अर्थ है—कथा काव्य। ब्रजभाषा में भी प्रेम-कथा के लिए कहीं-कहीं यह शब्द व्यवहृत हुआ है। गुजराती और राजस्थानी में अनेक रासो ग्रन्थ लिखे गये है। हो सकता है आगे चलकर यह रासो शब्द वीर-रसात्मक, युद्ध-कथापूर्ण ऐतिहासिक काव्य में रूढ़ हो गया हो। कुछ विद्वान रासो को रासौ, रसाडा, रास्सा आदि के साम्य से भी ढूँढकर युद्ध-कथा के अर्थ में उचित समझते है।

रासो की भाषा—

रासो की भाषा के सम्बन्ध में भी विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार ग्रन्थ की प्रामाणिकता का प्रश्न है वैसा ही भाषा का भी। रासो की विषय-वस्तु को देखकर जिस प्रकार यह निर्णय नहीं हो पाता कि यह बारहवीं

शताब्दी की रचना है उसी प्रकार यह भी कहना कठिन है कि इसमें उसी शताब्दी की भाषा का प्रयोग है। यदि यह अन्तिम रूप से निर्णय हो जाय कि रासो १७ वीं शताब्दी की रचना है तो भाषा की स्थिति का निर्णय कठिन नहीं होगा। भाषा-विज्ञान की कसौटी पर भाषा की परख करने से यह किसी एक काल की भाषा प्रतीत नहीं होती। भाषा की प्रकृति को दृष्टि में रख कर इसी कारण इसका काल-निर्धारण भी कठिन है। यों रासो का काल यदि तेरहवी शताब्दी माना जाय तो निश्चय ही उसकी भाषा उस काल की न होकर परवर्त्ती युग की ठहरती है। अपभ्रंश तथा तत्कालीन प्राकृतों के जो रूप साहित्य मे प्रचलित थे उनका शुद्ध रूप रासो मे नही है। रासो मे संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता के साथ-साथ अपभ्रंश, प्राकृत, राजस्थानी, अरबी, सधुक्कड़ी, फारसी आदि अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण मिलता है। स्वयं कवि चन्द ने अपनी भाषा को छै भाषाओं की खिचड़ी कहा है—'षट्भाषा कुरानं च पुराणं कथितं मया।'

रासो की भाषा के विषय मे मूल प्रश्न यह है कि इसका मूल ढांचा ब्रजभाषा का है या डिंगल भाषा का। कुछ समीक्षक रासो की भाषा को पिंगल—अर्थात् ब्रजभाषा का प्राचीन रूप मानते है। (देखो डा० श्यामसुन्दरदास का हिन्दी साहित्य) और कुछ राजस्थानी विद्वान् रासो की भाषा को डिंगल कहते हैं। डिंगल भाषा के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डा० टैसीटैरी के अनुसार डिंगल का अर्थ है—अनियमित

(Irregular)। पं० हरप्रसादशास्त्री के मत में डिंगल शब्द डगलट (मिट्टी का ढेला) से निकला है। जो भाषा मिट्टी के अनगढ़ ढेले के समान हो वह डिगल है। कुछ लोग ध्वनि-साम्य से डमरू की ध्वनि के समान ध्वनि वाली भाषा को डिगल कहते हैं। दूसरे विद्वान् 'डींग मारने वाली' भाषा को डिगल कहते हैं। राजस्थानी विद्वान डिगल का अर्थ दुरूह भाषा करते हैं।

संक्षेप में, रासो की भाषा अपभ्रंश भाषा के अति निकट की डिंगल भाषा का रूप है जिसमें बाद के युग में प्रक्षिप्तांश मिलने से पिंगल, तत्सम, अरबी, फारसी आदि अनेक रूपों का समवाय हो गया। राजस्थानी भाषा की प्रचुरता भी निस्सन्देह परवर्त्ती काल का ही परिणाम है। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया है—"अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था वही डिंगल कहलाता था"। भाषा-विज्ञान की कसौटी पर रासो की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच की कड़ी है। रासो की भाषा में तत्कालीन प्रचलित प्रायः सभी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है। व्याकरण की दृष्टि से डिंगल को ही हम रासो की भाषा कह सकते हैं।

महाकाव्य की दृष्टि से रासो—

महाकाव्य की शास्त्रीय कसौटी पर यदि इस विशालकाय काव्य-ग्रन्थ की समीक्षा की जाय तो इसमें महाकाव्य के तत्त्वों का प्रायः अभाव ही परिलक्षित होता है। कलेवर की विशा-

लता तथा विषयों की विविधता को देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह काव्य महाकाव्य है। केवल विशालता ही से किसी काव्य को महाकाव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। प्राचीनों की परिभाषा के अनुसार सर्ग, कथावस्तु, प्रकृति-वर्णन, मानव चरित्र, नायक, खल-नायक आदि का विचार किया जाय तो इस काव्य मे इन तत्त्वों का समावेश उपलब्ध होता है किन्तु मुख्य तत्त्व 'कथा-वस्तु' का उचित निर्वाह हम को इस विशाल ग्रन्थ में नही दीखता। कथा को प्रारम्भ करके कवि ने नाना उपकथाओं से इस प्रकार उलझाकर छोड़ दिया है कि नायक पृथ्वीराज के जीवन का सम्पूर्ण इतिवृत्त भी शृंखला-बद्ध हमे उपलब्ध नही होता, अवान्तर प्रकरणो की भरमार से कथावस्तु का निर्वाह असम्भव-सा हो गया है। वर्णनों मे विपुलता तो है किन्तु महाकाव्य वाला सौष्ठव नही। कुछ समय (सर्ग) अवश्य सुन्दर है किन्तु अधिकांश को हम भरती का कह सकते हैं। रस-परिपाक की दृष्टि से भी हम रासो मे महा-काव्यत्व नही पाते। मानव चरित्र की सम्पूर्णता की कसौटी पर यह खरा नहीं उतरता। लोक-जीवन की उपेक्षा के कारण तो महाकाव्यत्व को सब से बड़ी उपादेयता की इसमे अवहेलना हुई है। 'रामचरितमानस' यदि महाकाव्य का पूर्ण निदर्शन है तो निश्चय ही रासो में महाकाव्यत्व का अभाव ही हमे दीखता है। फिर भी प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से रासो को प्राचीन युग का सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-प्रबन्ध कहा जा सकता है। शैली की दृष्टि से रासो मे विविधता है। छन्द, अलंकार, रस तथा

गुणों का काव्य मे प्रचुर परिमाण मे कवि ने समावेश किया है और इस विविधता के सृजन मे उसका सक्रिय उद्योग रासो को महाकाव्य बनाने का रहा है ।

संक्षेप मे, यह मानने मे हमे संकोच नही होना चाहिए कि भारतीय मध्ययुग के इतिहास की सामग्री हम रासो में बिखरी हुई पाते है। कर्नल टॉड ने इसी कारण रासो को Universal History of the period कहा है। राजस्थान तथा दिल्ली का इतिहास लिखने मे अनेक ऐतिहासिकों ने इसका प्रचुर मात्रा मे उपयोग किया है। इस दृष्टि से यह विशाल काव्य हिन्दी-साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। काव्य-सौष्ठव के साथ-साथ इतिहास की इतनी सामग्री देने वाला यह हिन्दी का प्रथम प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है।

—सम्पादक

कबीर

भारतीय जनश्रुतियों में संतों और महात्माओं की जीवन-तिथियों को कभी महत्त्व नही दिया गया। अंधविश्वास और अज्ञान से भरी हुई कहानियाँ, श्रद्धा और अलौकिक चमत्कार पर आस्था रखने की प्रवृत्तियाँ हमे अपने संतों और कवियों की ऐतिहासिक स्थिति का निर्णय करने की ओर उत्साहित नहीं करतीं। जिन कवियों ने देश और जाति के दृष्टिकोण को बदल कर उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है और हमारे लिए साहित्य की अमर निधि छोड़ी है, उनका जन्म-काल और जीवन का ऐतिहासिक दृष्टिकोण विस्मृति के अंधकार मे छिपा हुआ है। कबीर की जन्म-तिथि भी हमारे सामने प्रामाणिक रूप में नहीं है।

कबीर पंथ के ग्रंथों मे कबीर के जीवन के संबंध मे जितने अवतरण या संकेत मिलते है, उनमे जन्म-तिथि का उल्लेख नही है। ग्रंथों मे तो कबीर को सत्पुरुष का प्रतिरूप मानते हुए, उन्हें सब युगों मे वर्तमान कहा गया है। ग्रंथ-अवतारणा मे कबीर के वचनों का उल्लेख इस भाँति किया गया है—'मैने युग-युग मे अवतार धारण किये है और प्रकट रूप से मैं संसार मे निरंतर वर्तमान हूँ। सतियुग में मेरा नाम सत सुकृत था, त्रेता मे मुनींद्र, द्वापर में करु और कलियुग मे कबीर हुआ। इस प्रकार चारों युगों मे मेरे चार नाम है और मैं इन

युगों में माया रहित होकर निवास करता हूँ।" इस दृष्टिकोण में ऐतिहासिक रूप से जन्म-तिथि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अन्य स्थलों पर कबीर को चित्रगुप्त और गोरखनाथ से वार्तालाप करते हुए लिखा गया है। 'अमरसिंहबोध' में कबीर और चित्रगुप्त में संवाद हुआ है जिसमे चित्रगुप्त ने कबीर द्वारा दी हुई राजा अमरसिंह की पवित्रता देखकर अपनी हार स्वीकार की है। 'कबीर गोरख गुष्ट' में गोरख और कबीर मे तत्त्व-सिद्धांत पर प्रश्नोत्तर हुए हैं और कबीर ने गोरख को उपदेश दिया है। यह स्पष्ट है कि चित्रगुप्त देवरूप से मान्य है और गोरखनाथ का आविर्भाव-काल कबीर की जन्म-तिथि से बहुत पहले है क्योंकि कबीर ने अपनी रचनाओं में नाथ-आचार्यों को अनेक बार स्मरण किया है। सन्त कबीर के चारों ओर जो आध्यात्मिक प्रकाश-मंडल खिंच रहा है, वह कबीर को एक-मात्र दिव्य पुरुष के रूप में प्रदर्शित करना चाहता है। उसमें वास्तविक जन्म-तिथि खोजने की प्रेरणा भी नहीं है।

कबीरपंथी साहित्य में एक ग्रंथ 'कबीर-चरित्र-बोध' अवश्य है जिसमें कबीर की जन्म-तिथि का निर्देश है। "संवत् चौदह सौ पचपन विक्रमी—जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार के दिन सत्य पुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा। उस समय पृथ्वी और आकाश प्रकाशित हो गया।" इस प्रकार कबीर-चरित्र-बोध के अनुसार कबीर का आविर्भाव-काल संवत् १४५५ (सन् १३९८) है। संभवतः इसी प्रमाण के आधार

पर कबीर-पंथियों में कबीर के जन्म के संबंध मे एक दोहा प्रचलित है—

> चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
> जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥

इस प्रकार कबीर का जन्म संवत् १४५५ मे ज्येष्ठ पूर्णिमा चन्द्रवार को कहा गया है। किंतु 'कबीर-चरित्र-बोध' की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता और कबीर-पंथियों मे प्रचलित जनश्रुति केवल विश्वास की भावना है, इतिहास का तर्कसम्मत सत्य नहीं।

कबीर के संबंध में जिन ग्रंथों पर विचार किया जा चुका है उनमें कोई भी कबीर की जन्म-तिथि का उल्लेख नहीं करता। केवल 'कबीर-चरित्र-बोध' मे कबीर का जन्म 'चौदह सौ पचपन विक्रमी ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार' को स्पष्टतः लिखा है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने एस० आर० पिल्ले की 'इंडियन क्रोनोलॉजी' के आधार पर गणित कर यह स्पष्ट किया है कि संवत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को सोमवार ही पड़ता है। डा० श्यामसुंदरदास ने कबीरपंथियों मे प्रचलित उपरोक्त दोहे के आधार पर 'गए' को व्यतीत हो जाने के अर्थ में मानकर कबीर का जन्म-संवत् १४५६ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किंतु गणित करने से स्पष्ट हो जाता है कि ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १४५६ को चंद्रवार नहीं पड़ता। अतः कबीर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में संवत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा ही अधिक प्रामाणिक जान पड़ती है। अब यदि कबीर का जन्म संवत् १४५५ (सन्

१३६८) में हुआ था तो क्या वे रामानन्द के शिष्य हो सकते हैं? डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक 'कबीर—हिज़ बायोग्रेफी' मे कबीर को रामानन्द का शिष्य नहीं माना है। उनका कथन है कि वे कबीर के जन्म के बीस वर्ष पूर्व ही महाप्रयाण कर चुके थे। मैं नहीं समझ सकता कि किस आधार पर डा० सिंह ऐसा लिखते हैं। वे रामानन्द की मृत्यु, श्री गणेशसिंह लिखित अत्यंत आधुनिक पंजाबी पुस्तक 'भारत-मत-दर्पण' के अनुसार सन् १३५४ में लिखते हैं और कबीर का जन्म सन् १३६८ मे। उपर्युक्त सन् निर्णय के अनुसार रामानंद कबीर के जन्म लेने के ४४ वर्ष पूर्व ही अपना जीवन समाप्त कर चुके होंगे; बीस वर्ष पूर्व नहीं, जैसा कि वे लिखते है। वे तो यहाँ तक कहते है कि कबीर ने अपने काव्य में अपने मनुष्य-गुरु का नाम कहीं लिखा भी नहीं इसलिए कबीर का गुरु मनुष्य-गुरु नहीं था यह केवल ब्रह्म, विवेक या शब्द था। और इसके प्रमाण मे वे 'गुरु-ग्रंथ' मे आये हुए निम्नलिखित पद उद्धृत करते है—

१. माधव जल की पियास न जाइ।

... ...

तू सतिगुरु हउ नउ तनु चेला।
कहि कबीर मिलु अंत की बेला॥

(राम गउड़ी २)

२. संता कउ मति कोई निंदहु संत राम है एकु रे।
कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ बिबेकु रे॥

(राग सूही ५)

इसमें कोई संदेह नहीं है कि कबीर ने अपने गुरु का नाम अपने काव्य में नहीं लिया है किंतु इसका कारण उनके हृदय में गुरु के प्रति अपार श्रद्धा का होना कहा जा सकता है। कबीर ने ईश्वर तथा विवेक को भी अपना गुरु कहा है किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कबीर का कोई मनुष्य-गुरु था ही नही।

कबीर का निधन कब हुआ, यह कहीं भी प्रामाणिक रूप से हमे नहीं मिलता। यदि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे तो वे सिकंदर लोदी के राज्यारोहण-काल सन् १४८८ या १४८९ (संवत् १५४५ या १५४६) तक अवश्य ही जीवित रहे। इस काल के कितने समय बाद कबीर का निधन हुआ यह नहीं कहा जा सकता।

"कबीर की मृत्यु"—कबीर की मृत्यु के संबंध में अभी तक हमे तीन अवतरण मिलते हैं—

(१) सुमंत पंद्रा सौ उनहत्तरा हाई।
सतगुरु चले उठ हंसा ज्याई॥

(धर्मदास-द्वादशपंथ)

यह संवत् है १५६९

(२) पंद्रह सौ उनचास मे, मगहर कीनो जौन।
अगहन सुदि एकादशी, मिले पौन मे पौन॥

(भक्तमाल की टीका)

यह है संवत् १५४९

(३) संवत् पंद्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी रल्यो पौन मे पौन॥

(कबीर जनश्रुति)

जान-ब्रिग्स के अनुसार सिकंदर काशी हिजरी ६००, सन् १४६४ (संवत् १५५१) में आया था। तभी कबीर उसके सामने उपस्थित किये गये थे। अत: उपर्युक्त भक्तमाल की टीका का उद्धरण (२) अशुद्ध ज्ञात होता है। उद्धरण (१) में तिथि और दिन दोनों नही है। उद्धरण (३) में तिथि तो है किंतु दिन नही है। अतः इन दोनों की प्रामाणिकता गणना के आधार पर निर्धारित नही की जा सकती। अनन्तदास की 'परचई' के अनुसार कबीर ने एक सौ बीस वर्ष की आयु पाई। उनके जन्म-संवत् मे एक सौ बीस वर्ष जोड़ने से संवत् १५७५ होता है जो जनश्रुति से मान्य है। किंतु जनश्रुति इतिहास-सम्मत नहीं हुआ करती। अतः हम कबीर को सिकंदर लोदी का समकालीन निश्चित करते हुए भी जनश्रुति के आधार पर अपने निर्णय की पुष्टि नही कर सकते। अनंतदास की 'परचई' भक्ति-भावनावश कारण लिखी जाने के कारण सम्भवतः आयु-निर्देश में कुछ अतिशयोक्ति की पुट दे दे क्योंकि अनन्तदास ने अपनी 'परचई' मे संवत् का उल्लेख न कर आयु का परिमाण ही दिया है। संवत् के अभाव मे हम इस आयु-निर्देश पर विशेष श्रद्धा नहीं रख सकते।

अंत मे अधिक से अधिक हम यही स्थिर कर सकते हैं कि सन्त कबीर का जन्म संवत् १४५५ (सन् १३९८) में और निधन संवत् १५५१ (सन् १४९४) के लगभग हुआ था जब सिकंदर लोदी काशी आया। इस प्रकार संत कबीर ने ९६ वर्ष

या उससे कुछ ही अधिक आयु पाई। मांसाहार को घृणा की दृष्टि से देखने वाले सात्त्विक जीवन के अधिकारी सन्त के लिए यह आयु अधिक नहीं कही जा सकती।

कबीर के ग्रंथ

कबीर के निर्गुणवाद ने हिन्दी-साहित्य के एक विशेष अंग की पूर्ति की है। धार्मिक काल के प्रारम्भ मे जब दक्षिण के आचार्यों के सिद्धान्त उत्तर भारत मे फैल रहे थे और हिन्दी साहित्य के रूप में अपना मार्ग खोज रहे थे, उस समय धार्मिक विचारों के उस निर्माण-काल में कबीर का निर्गुणवाद अपना विशेष महत्त्व रखता है। एक तो इस्लाम धर्म का व्यापक किन्तु अदृष्ट प्रभाव दूसरे हिन्दू धर्म की अनिश्चित परिस्थिति उस समय के हिन्दी साहित्य में निर्गुणवाद के रूप में ही प्रकट हो सकती थी, जिसके लिए कबीर की वाणी सहायक हुई। इसमे कोई सन्देह नहीं कि धार्मिक काल की महान् अभिव्यक्ति राम और कृष्ण की भक्ति के रूप मे हो रही थी, पर उसके लिए अभी वातावरण अनुकूल नहीं था। चारणकाल की प्रशस्ति एक बार ही धर्म की अनुभूति नहीं बन सकती थी। ऐहिक भावना पारलौकिक भावना में एक बार ही परिवर्तित नही हो सकती थी और नरेशों की वीरता की कहानी सगुण ब्रह्म-वर्णन में अपना आत्म-समर्पण नहीं कर सकती थी। इसके लिए एक मध्य-शृङ्खला की आवश्यकता थी और वह कबीर की भावना में मिली। यद्यपि कबीर ने किसी नरेश अथवा

अधिपति की प्रशंसा मे ईश्वरीय बोध की भावना नहीं रक्खी तथापि सगुणवाद को हृदयंगम करने तथा तत्कालीन परिस्थितियों के बीच भक्ति को जाग्रत करने के साधन अवश्य उपस्थित किये। यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि निर्गुणवाद ने सगुणवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया यद्यपि होना चाहिए था इसके विपरीत, किन्तु कबीर की निर्गुणधारा अधिकांश मे परिस्थिति की आज्ञा थी और भक्ति तथा साकारवाद की असंदिग्ध प्रारम्भिक स्थिति। अत. भक्ति-काल के प्रभात मे कबीर का निर्गुणवाद साहित्य के विकास की एक आवश्यक और प्रधान परिस्थिति ही माना जाना चाहिए।

कबीर की रचनाओं मे सिद्धान्त का प्राधान्य है, काव्य का नहीं। उनमें हमें साहित्य का सौन्दर्य नही मिलता, हमे मिलता है एक महान् संदेश। केवल कबीर की रचनाओं मे ही नही, उनके द्वारा प्रवर्तित निर्गुणवाद के कवियों की रचनाओं मे भी हमे साहित्य-सौन्दर्य खोजने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। उनमें अलंकार, गुण और रस के लिए कोई स्थान नही है, क्योंकि वे रचनाएँ इस दृष्टिकोण से लिखी ही नही गईं। उन रचनाओं में भाव है, सिद्धान्त है और हमें उन्हीं का मूल्य निर्धारित करना चाहिए। कबीर के सिद्धान्त यद्यपि कहीं-कहीं सुन्दर काव्य का रूप धारण किये हुए हैं, पर वह रूप केवल गौण ही है। कहीं-कहीं तो कबीर की रचनाएँ काव्य का परिधान पहने हुए हैं, कहीं वे नितान्त नग्न हैं। अत. कबीर में सन्देश अधिक है, काव्य-सौन्दर्य कम। उसका कारण यह है कि

कबीर का शास्त्र-ज्ञान बहुत थोड़ा था। वे पढ़े-लिखे भी नहीं थे। उनका ज्ञान केवल सत्संग का फल था। कबीर की कविता में हिन्दू-धर्म के सिद्धान्त हमें टूटे-फूटे रूप मे ही मिलते हैं, पर वे कबीर की मौलिकता के कारण चिकने और गोल हो गये है। हिन्दू-धर्म के सहारे उन्होंने अपने व्यावहारिक ज्ञान को बहुत सुन्दर रूप दे दिया है, साथ ही साथ उन्होंने सूफी मत के प्रभाव से भी अपने विचारों को स्पष्ट किया है, यही कबीर की विशेषता है। सगुणवादी रामानन्द से दीक्षित होकर भी उन्होंने हिन्दू-धर्म के निर्गुणवाद मे अपनी मौलिकता प्रदर्शित की, यह निर्गुणवाद सिद्धान्त के रूप मे बहुत परिमित है। उसमे कुछ ही भावनाएँ हैं और उनका आवर्तन बार-बार हुआ है। यह कबीर के ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है किन्तु जो संदेश है वे कवि के द्वारा विश्वास और शक्ति के साथ उनमें लिखे गये है। उनमें जीवन है और हृदय को ईश्वरोन्मुख करने की महान् शक्ति है।

कबीर ने कितनी रचनाएँ की है, यह संदिग्ध है। यदि उन्होंने 'मसि कागद' नहीं छुआ था और अपने हाथों में कलम नहीं पकड़ा था, तो वे स्वयं अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध तो कर ही नहीं सकते थे; उनके शिष्य ही उन्हे लिख सकते थे। नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्ट में जितने ग्रंथों का पता चलता है उनमें एक भी ग्रंथ ऐसा नहीं है, जो कबीर के हाथों से लिपिबद्ध हुआ हो। शिष्यों के द्वारा लिखे जाने से उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें हो सकती है। यदि वे ग्रंथ

कबीर के सामने या उन्हीं के आदेश से लिखे गये होंगे तब तो भूलों की कम संभावना है, किन्तु यदि वे पंथ के संतों द्वारा कबीर के परोक्ष में अथवा उनके जीवन-काल के बाद लिखे गये हैं तो उनमें भूलों की मात्रा बहुत अधिक होगी। यही कारण है कि कबीर का शुद्ध पाठ अभी तक अज्ञात है और सम्भवतः परिस्थिति भी यही रहेगी। कबीर ने पर्यटन भी खूब किया था अत. जहाँ-जहाँ उन्होंने अपने भ्रमण-काल में लिखा होगा, वहाँ की भाषा का प्रभाव कबीर की रचनाओं पर पड़ा होगा। दूसरे कबीर भाषा के पंडित भी नहीं थे, अत वे भाषा को माँज भी न सके होंगे। जैसे उनके भाव होंगे वैसी ही भाषा स्वाभाविक रूप से कवि की वाणी में आती जाती होगी। इसके साथ ही एक कठिनाई और है। एक ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं। उन प्रतियों की भाषा और पाठ ही भिन्न नहीं हैं, वरन उनका विस्तार भी असीम है। कबीर के अनुराग-सागर की दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं।

कबीर की भाषा

कबीर-ग्रंथावली का सम्पादन डा० श्यामसुन्दरदास ने किया है। यह नागरी-प्रचारिणी-सभा (काशी) की ओर से प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थावली का सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है जिनकी अनुलिपि की तिथियाँ क्रमशः संवत् १५६१ तथा १८८१ है।

कबीर-ग्रन्थावली की भाषा में पंजाबीपन अत्यधिक है। कबीरदास जी बनारस के निवासी थे। उनकी मातृ-भाषा 'बना-

रसी बोली' थी जिसकी गणना पश्चिमी भोजपुरी के अन्तर्गत है। अब प्रश्न यह उठता है कि उनकी भाषा मे पजाबीपन कहाँ से आया ? इसके दो कारण हो सकते है—प्रथम यह कि अनुलिपि-कर्ता ने भोजपुरी शब्दों तथा मुहावरों को अनुलिपि करते समय पंजाबी मे परिवर्तित कर दिया हो अथवा संतों के सत्सग के कारण कबीर को पंजाबी का पर्याप्त ज्ञान हो गया हो और उन्होने स्वयं इसी रूप मे इन पदों की रचना की हो। डाक्टर दास के मतानुसार दूसरी सम्भावना ही ठीक है किन्तु मै समझता हूँ कि पहली सम्भावना मे ही तथ्य का अंश अधिक है।

जो दशा कबीर की भाषा की हुई ठीक वही बुद्ध की भाषा की भी हुई थी जो कबीर से दो सहस्र वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय सिल्वाँ लेवी तथा जर्मनी के सस्कृत के पंडित लुडर्स ने अपने दो लेखों मे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया है कि किस प्रकार दाक्षिणात्य बौद्धों (स्थविर-वादियों) के 'बुद्ध वचन' की भाषा मे ऐसे रूप भी वर्तमान है जो वस्तुतः 'प्राचीन मागधी' के है। स्थविरवादियों (सिंहल-निवासियो) के त्रिपिटक की भाषा पाली है जिसका सम्बन्ध स्पष्ट रीति से मध्य देश की भाषा से है। इस पालि-त्रिपिटक मे ही प्राचीन मागधी के रूप मिलते है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्त्तमान पालि-त्रिपिटक की रचना के पूर्व त्रिपिटक की कुछ ऐसी प्रतियाँ भी प्रचलित थी जिनकी भाषा 'प्राचीन मागधी' थी। जब मध्य देश की भाषा पाली मे आधुनिक त्रिपिटक को

परिवर्तित किया गया, तो भी 'प्राचीन मागधी' भाषा के कुछ शब्द तथा मुहावरे आदि यत्र-तत्र रह ही गये।

ठीक ऊपर की दशा कबीर की भाषा की भी हुई। यह बात प्रसिद्ध है कि कबीर शिक्षित न थे, अतएव 'बनारसी बोली' के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्यिक भाषा में रचना करना उनके लिए सम्भव न था। यह 'बनारसी बोली' अथवा उस समय की भोजपुरी केवल प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। इसे न तो व्रज भाषा की भाँति शौरसेनी अपभ्रंश की परम्परागत प्रतिष्ठा ही प्राप्त थी और न नवीन विकसित 'खड़ी बोली' की भाँति मुसलमान शासकों की संरक्षिता ही मिली थी। भोजपुरी क्षेत्र के पश्चिम में कबीर की वाणी के प्रसार के लिए यह आवश्यक था कि उनके 'पदों' तथा 'साखियों' का अनुवाद 'व्रजभाषा' खड़ी बोली अथवा दोनों के संमिश्रण में हो। ऐसा करने ही से इनके सिद्धान्तों का प्रचार पश्चिम पंजाब से बंगाल तक और हिमालय से लेकर गुजरात तथा मालवा तक हो सका था। व्रज तथा खड़ी बोली में अनुवाद का यह कार्य केवल मूल भोजपुरी के कतिपय शब्दों के रूप बदल देने से ही सम्पन्न हो सकता है।

कबीर का ज्ञान विस्तृत था। उन्होंने देश-भ्रमण भी खूब किया था। ऐसी अवस्था में इस बात की भी सम्भावना है कि उन्हें व्रज, खड़ी बोली तथा कोसली (अवधी) का पर्याप्त ज्ञान हो और उन्होंने स्वयं इन भाषाओं में रचना की हो; किन्तु संवत १५६१ की प्राचीन प्रति के आधार पर सम्पादित कबीर-

ग्रन्थावली के पदों मे भोजपुरी रूपों को देखकर यही धारणा पुष्ट होती है कि बुद्ध-वचन की भाँति ही कबीर की वाणी पर भी उनके भक्तों द्वारा पछाहीं रंग चढ़ाया गया।

कबीर का महत्त्व और उनका काव्य

हर्ष का मृत्यु-काल (सन् ६४७ ई०) भारतीय समाज के इतिहास में एक बड़ी विभाजक-रेखा का कार्य करता है। शंकराचार्य के अभ्युदय से ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान तो हुआ, पर कुछ बाह्य और अंतरंग कारणों से वह अधिक काल तक स्थिर न रह सका। वह धीरे-धीरे बहुत कुछ रूपान्तरित-सा हो गया। मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व भारतवर्ष पर शक, हूण आदि कितने ही विदेशियों के आक्रमण हुए थे। इन विदेशियों के धार्मिक एवं सामाजिक सिद्धान्त व्यापक न होने के कारण ये शीघ्र ही हिन्दू धर्म के साथ एक हो गये और कुछ काल मे इनका अपना भिन्न अस्तित्व भी न रह गया। किन्तु मुसलमानी सभ्यता का जन्म अपनी एक विशेष शक्ति के आधार पर हुआ था। इसका प्रवेश विजेता के रूप मे हुआ। मुस्लिम सत्ता और हिन्दू जनता कुछ विरोधी प्रवृत्ति के कारण एक न हो सकी। इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि १४ वीं शताब्दी में कुछ प्रलोभन तथा भय के कारण उत्तरी भारत की अधिकांश जनता मुसलमान हो गई थी। मुस्लिम काल में शासक की विनाशकारी प्रवृत्ति के कारण हिन्दुओं में समाज-संस्कार को अधिक नियमित करने की आवश्यकता बढ़ी। इसके परिणाम-

स्वरूप वर्णाश्रम धर्म की रक्षा, छुआछूत की जटिलता तथा पर्दे की प्रथा है। १४ वीं शताब्दी में भारतीय समाज की अशान्ति के इन बाह्य कारणों के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी थे। प्राचीन भाषा अब नवीन रूप धारण कर चुकी थी। धार्मिक साहित्य की समस्त रचना संस्कृत में ही हुई थी। इस दृष्टि से धार्मिक अध्ययन ब्राह्मण पण्डितों तक ही सीमित हो गया था और साधारण जनता धार्मिक ज्ञान से बहुत दूर हो गई थी। जिस प्रकार यूरोप में लूथर के पूर्व १५ वीं शताब्दी में पोप ही धर्म के स्तम्भ समझे जाते थे, उसी प्रकार कबीर के पूर्व धार्मिक ज्ञान पूर्ण रूप से ब्राह्मणों के आश्रित था। साधारण जन की शान्ति के लिए कोई आश्रय न था। साथ ही शासकों की निरंकुश नीति के कारण राजनीतिक असन्तोष की मात्रा भी बहुत बढ़ी थी। मुहम्मद तुगलक के शासन काल में ही व्यवस्था अनियमित हो गई थी और सन १३९८ ई० का तैमूर का आक्रमण तो उत्तरी भारत के लिए अराजकता और हिंसक प्रवृत्ति का सीमान्त उदाहरण था।

ऐसी ही अव्यवस्थित स्थिति में रामानन्द और कबीर का उदय हुआ था। प्रसिद्ध इतिहासकार 'बकले' का कहना है कि युग की बड़ी विभूतियाँ काल प्रसूत होती हैं। कबीर के विषय में तो यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट है। जनता की धर्मान्धता तथा शासकों की नीति के कारण कबीर के जन्म-काल के समय में हिन्दू मुसलमान का पारस्परिक विरोध बहुत बढ़ गया था। धर्म के सच्चे स्वरूप को भूल कर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित

होकर दोनों जातियाँ धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थीं। ऐसी स्थिति में सच्चे मार्ग के प्रदर्शन का श्रेय कबीर को है। यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित हैं, तथापि भारतीय नवयुग के समाज-सुधारकों मे कबीर का स्थान सर्व-प्रथम है; क्योंकि भारतीय धर्म के अंतर्गत दर्शन, नैतिक आचरण एवं कर्मकाण्ड तीनों का समावेश है।

कबीर के पहले भी हिन्दू समाज मे कितने ही धार्मिक सुधारक हुए थे, पर उनमें अप्रिय सत्य कहने का बल अथवा साहस नहीं था। हिन्दू जन्म से ही अधिक धर्म-भीरु होता है। यह उसकी जातीय दुर्बलता है। दूसरों की धार्मिक जाति का स्पष्ट विरोध करना मुस्लिम-धर्म का एक विशेष अंग है। इन्हीं दोनों परस्पर प्रतिकूल सभ्यता के योग से कबीर का उदय हुआ था जिनका प्रधान उद्देश्य इन दो सरिताओं को एक-मुख करना था। कबीर की शिक्षा मे हमे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की सीमा तोड़ने का यत्न दृष्टिगत होता है। यही उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी।

कबीर की विशेषता इन्ही धार्मिक पाखण्डों का स्पष्ट शब्दों में विरोध कर, सत्यानुमोदन करने की है। कबीर ने निश्चय किया कि हिन्दू-मुस्लिम-विरोध का मूल कारण उनका अंध-विश्वास है। धर्म का मार्ग संसार के कृत्रिम भेद-भावों से बिल्कुल रहित है। 'कह हिन्दू मोहि रामपियारा, तुरुक कहै रहिमाना। आपस मे दोउ लरि लरि मूये, मरम न काहू जाना'। वास्तव में भारतीय समाज में बन्धुत्व के ये भाव कबीर द्वारा ही सर्व-

प्रथम व्यक्त किये गये थे। भक्ति-भाव के आन्दोलन द्वारा भगवान् के सामने सम-भाव का आदेश तो रामानन्द ने भी दिया था, पर जाति-विभाग और ऊँच-नीच भाव के एकीकरण का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था। सच्चा सुधारक समाज मे नये मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अंध-विश्वास में पड़े हुए मनुष्यों को तर्क द्वारा जागृत करना अधिक आवश्यक समझता है। कबीर स्वाधीन विचार के व्यक्ति थे। काशी में हिन्दू धर्म के प्रधान केन्द्र में कबीर के सिवा और कौन साहस कर पूछ सकता था कि 'जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये, और राह तुम काहे न आये'। यदि काली और सफेद गाय के दूध मे कोई अंतर नहीं होता तो फिर उस विश्व-वंद्य की सृष्टि मे जाति-कृत भेद कैसा! "कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावै एक जमी पर रहिये"। सत्य तो यह है कि सभी परमेश्वर की संतान है: "को ब्राह्मण को शूद्रा!"—

कबीर की यही समदृष्टि उन्हें सार्वभौमिक बना देती है। स्मरण रखना चाहिए कि भक्तियोग के उत्थान के साथ कितने अन्य महात्माओं ने भी शूद्रों को स्वीकार किया था, परन्तु 'जाति-विभाग हेय और हानिप्रद है' ऐसी घोषणा करने का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था।

इसी जाति-विभाग के नियम-पालन मे छुआछूत का प्रश्न और भी जटिल हो गया था। हिन्दू मुसलमान दोनों ने अपने विशेष सामाजिक संस्कार बना लिये थे। साथ ही धर्म के दार्शनिक तत्त्वों की अवहेलना भी खूब हो रही थी। धर्म

का रूप केवल बाह्य कृत्यों तक ही सीमित था। कारण यह था कि पंडितो और मुल्लाओं की प्रधानता एवं संकुचित विचार-धारा के कारण आडम्बर की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। विशेगता तो यह थी कि इन सभी आचारों का अनुमोदन कुरान, पुराण आदि धार्मिक पुस्तकों के नाम से किया जाता था। कबीर ने देखा कि शास्त्र-पुराण आदि की कथाओं से लोग धर्म के सच्चे तत्त्व को भूल गये हैं। यह सब "झूठे का बाना है"! मनुष्य भूल कर आडम्बर के फेर मे पड़ गया है।

'सुर नर मुनि निरंजन देवा, सब मिलि कीन्ह एक बँधाना।
आप बँधे औरन को बांधे, भव सागर को कीन्ह पयाना॥'

बात सत्य थी, पर रूखे तौर पर कही गई थी। थोड़े से शब्दों में यह अप्रिय सत्य था जिसके वक्ता और श्रोता दोनो दुर्लभ होते हैं। इसका तात्पर्य यह नही है कि उन्होंने वास्तविक ज्ञान-राशि वेद, कुरान आदि को हेय समझा था, परन्तु उनका कहना तो यह था कि बिना समझे इनका आश्रय लेना अज्ञानता है।

उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया है कि 'वेद कितेब कहो मत, झूठे, झूठा जो न विचारै'। काशो, गया, द्वारका आदि की यात्रा से कोई भी तात्पर्य नहीं है। मनुष्य को पहले निष्कपट होना चाहिए। उसका परिधान रंगा हुआ है, हृदय नहीं। कबीर के समय में हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक विरोध के कारण धर्म के बाह्याडम्बरों की बहुत वृद्धि हो गई थी। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार परमात्मा विश्वव्यापी है। सूफी सिद्धान्त भी

इसी मत का प्रतिपादन करता है। पर जनता मूल सिद्धान्त को भूल गौण को मुख्य मान कर विरोध कर रही थी। विश्वव्यापी का निवास कोई पूर्व और कोई पश्चिम में बताता था। मुसलमान बाँग देकर अपने ईश्वर को स्मरण करने मे ही अपना महत्त्व समझता है। पुराणों के अनुसार कितने ही मार्ग प्रतिपादित हैं। धर्म-ग्रन्थ अनन्त हैं, फिर उनके द्वारा प्रतिपादित मार्गों की सीमा नहीं। सभी अपना राग अलापते है। कबीर ने देखा कि इस एकात्मता के पीछे अनेकरूपता का रूपक देकर अकारण ही विरोध बढाया गया है। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि महादेव और मोहम्मद मे कोई भेद नहीं है। राम और रहीम पर्यायवाची हैं। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी उस परवरदिगार के बन्दे हैं।

"हिन्दू तुरुक की एक राह है सतगुरु इहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो संतो राम न कहेउ खोदाई॥"

इस प्रकार कबीर ने अपने समय में धार्मिक पाखड एवं कुरीतियों को दूर कर पारस्परिक विरोध को हटाने का सफल परिश्रम किया। सरल जीवन, सत्यता, स्पष्ट व्यवहार आदि उनके उपदेश हैं। हिन्दू मुसलमान दोनों धार्मिक बनते हैं। कबीर का कहना है "इन दोउन राह न पाई"। एक बकरी काटता है, दूसरा गाय। यह पाखंड नहीं तो और क्या है? कबीर ने समसामयिक प्रवाह देखकर हिन्दू मुसलमान दोनों के आडम्बर-मूलक व्यवहार का घोर विरोध किया। उन्होंने अपने विचार की पुष्टि के लिए किसी विशेष ग्रन्थ का आश्रय नहीं लिया।

यह हो सकता है कि इसके मूल में उनके पुस्तक-ज्ञान का अभाव रहा हो पर उन्होंने इतना तो स्पष्ट देखा कि इन्हीं धर्म-ग्रन्थों का आश्रय लेकर हिन्दू मुसलमान अन्याय कर रहे हैं। फिर जो बात सत्य है उसकी वास्तविकता ही प्रधान आधार है। उनका तो कहना था कि—

"मैं कहता हूँ आँखिन देखी।
तू कहना कागद की लेखी॥"

प्रश्न हो सकता है कि कबीर अपने कार्य में कितने सफल हो सके हैं। सच तो यह है कि संसार की महान् विभूतियों को जनता अपने अज्ञान-वश ठुकरा देती है। युग-प्रवर्त्तक महात्माओं को अपनी शिक्षा के अनुमोदित न होने का सदा दुःख रहा है। सुकरात, क्राइस्ट सभी इस अज्ञान जनता के शिकार हुए हैं। कबीर का सन्देश कृत्रिम भेद-भाव रहित विश्व-प्रेम-मूलक था यद्यपि वह विश्वव्यापी न हो सका।

भारतीय शिक्षित समाज पर प्रत्यक्षरूप से कबीर का प्रभाव बहुत कम पड़ा, परन्तु एक बात हिन्दुओं और मुसलमानों में समान रूप से व्याप्त हो गई। सब का भगवान् एक है और सब भगवान् के बन्दे हैं। जो हरि की वन्दना करता है वह हरि का दास है। परमपद की प्राप्ति के लिए प्रेम ही वाञ्छनीय है, कोई विशेष सम्प्रदाय, जाति अथवा शिक्षा नहीं। इस विषय की कितनी ही सूक्तियाँ आज उत्तरी भारत के गाँवों में कबीर के नाम से प्रसिद्ध हैं। हिन्दू मुसलमान दोनों कबीर का महत् पद स्वीकार करते हैं। भारतीय समाज के इतिहास में

भी कबीर के इस भाव का प्रभाव प्रत्यक्ष लक्षित होता है। कबीर की मृत्यु के पश्चात् मुस्लिम शासन-काल में भी प्रायः तीन शताब्दी तक हिन्दू-मुस्लिम धर्म-सम्बन्धी अनाचार की कोई घटना नहीं मिलती। प्रत्युत अकबर-कालीन मुग़ल-शासन में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्कता-सम्बन्धी कितने ही उदाहरण मिलते हैं। इतिहासकार इसके बहुत से कारण बताते हैं, परन्तु उन सभी कारणों मे हिन्दू-मुस्लिम-विरोध के मूल-स्वरूप अंध-विश्वास को मिटा कर समता का उपदेश देने वाले कबीर का प्रादुर्भाव विशेष विचारणीय है। इतिहास-लेखक प्रायः इस विषय की अवहेलना कर देते हैं परन्तु इसका प्रभाव हम गाँवों में देख सकते है, जहाँ आज भी हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव का कोई स्पष्ट रूप नही दिखलाई पड़ता। छुआछूत का तो बहुत कुछ अभाव ही है और साथ ही दोनों एक रूप से समता, सरल जीवन, ज्ञान तथा सन्तुष्टि से कितने ही पद प्रेम से गाया करते है। कबीर ने शताब्दियों की संकुचित चित्तवृत्ति को परिमार्जित कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अधिक उदार बना दिया है। यही उनकी विशेषता है। उन्होंने समाज में क्रांति-सी उत्पन्न कर दी थी। धर्म के नाम पर किये गए अनाचार का विरोध कर जन-साधारण की भाषा द्वारा समाज को जागृत करने में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है। कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य रचना नहीं की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते थे। कविता में छन्द और

अलंकार गौण हैं, संदेश प्रधान हैं। कबीर ने अपनी कविता में महान् संदेश दिया है। उस संदेश के प्रकट करने का ढंग अलंकार से युक्त न होते हुए भी काव्यमय है। कई समालोचक कबीर को कवि ही नहीं मानते क्योंकि वे कभी-कभी सही दोहा नहीं लिखते और अनुप्रास जैसे अलंकारों की चकाचौंध पैदा नही कर सकते। ऐसे समालोचकों को कबीर की समस्त रचना पढ़ कर कवि के कवित्व की थाह लेनी चाहिए। मीरां में भी काव्य-साधना है, पर पिंगल नहीं। फिर क्या मीरां को कवि के पद से बहिष्कृत कर देना चाहिए? कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना मे है। यह विवेचना कबीर में पर्याप्त है। अतः वे एक महान् कवि है। वे भावना की अनुभूति से युक्त है, उत्कृष्ट रहस्यवादी हैं और जीवन के अत्यन्त निकट है।

यह बात अवश्य है कि कबीर की कविता मे कला का अभाव है। उनकी रचना मे पद-विन्यास का चातुर्य नहीं है। 'उल्टबांसियों' में क्लिष्ट कल्पना है, भाषा बहुत भद्दी है, पर उन्होंने काव्य के इन उपकरणों को जुटाने की चेष्टा भी तो नहीं की। वे एक भावुक और स्पष्टवादी व्यक्ति थे और उन्होंने प्रतिभा के प्रयोग से अपने संदेश को भावात्मक रूप देकर हृदयग्राही बना दिया था। वे धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए 'उल्टबांसियाॅ' लिखते थे और संकीर्णता हटाने के लिए रेखते। उनकी कला उनकी स्पष्टवादिता में थी, उनकी स्वाभाविकता में थी। यही स्वाभाविकता उनकी सबसे बड़ी निधि है।

कबीर के विरह के पद साहित्य के किसी भी उत्कृष्ट कवि के पदों से हीन नहीं हैं। उनकी विरहिणी-आत्मा की पुकार काव्य-जगत् में अद्वितीय है। रहस्यवाद के दृष्टिकोण से यदि उनकी "पतिव्रता कौ अंग" पढ़ा जावे तो ज्ञात होगा कि उनका कवित्व संसार के किसी भी साहित्य का शृङ्गार हो सकता है।

उत्तरी भारत में कबीर का महत्त्व बहुत अधिक था। वे रामानन्द के प्रधान शिष्य थे। उनका निर्भीक विषय-प्रतिपादन उनके समकालीन भक्तों और कवियों में उन्हे सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित कर देता है। यही कारण है कि वे अपने गुरु का अनुकरण न करते हुए भी स्वयं अनेक भक्तों और कवियों के आदर्श हो गए।

मलिक मुहम्मद जायसी

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—

बाबर के समय में मुग़ल साम्राज्य की नींव पड़ी। एक दूसरे के समझने का तथा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रयत्न तो पहले से आरम्भ हो गया था जिसका फल हम कबीर की वाणी मे देखते हैं किन्तु बाबर के समय से यह भावना शासक-वर्ग मे भी आगई थी। इसने मुसलमानों को और भी मुलायम बना दिया। इस मुलाइमियत का परिचय हमको सूफियों के प्रेम-गाथा-काव्य में मिलता है।

सगुण और साकारवाद मे तो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की सम्भावना नहीं हो सकती थी किन्तु हिन्दुओं का निर्गुणवाद मुसलमानों के एकेश्वरवाद के निकट था। कबीर ने उसी को राम-रहीम की एकता का आधार बनाया और उन्होंने दोनों को फटकार कर 'इन दोउन राह न पाई' दोनों का गर्व दूर करना चाहा किन्तु यह बात दोनों को न रुची। इसके अतिरिक्त ज्ञान-मार्ग में शुष्कता अधिक थी। कबीर ने निर्गुण पर प्रेम और माधुर्य का आवरण चढ़ाया किन्तु वह उनकी झीनीबीनी चदरिया की भाँति इतना झीना था कि निर्गुण की शुष्कता छिप न सकी। कबीर की शून्य महल की सेज सूनी ही पड़ी रही। प्रेममार्गी कवि प्रेम की भावना लेकर आये जो ज्ञान की अपेक्षा

हृदय के अधिक निकट था। उन्होंने कथाओं का आधार लिया जो केवल सिद्धान्तवाद से अधिक रोचक और हृदय-ग्राह्य होती है। जायसी इस प्रेममार्गी कविता के मूलप्रवर्त्तक तो नहीं थे किन्तु उनमे प्रमुख थे। उन्होंने भी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या ली किन्तु अधिक कोमलता और काव्यमयता के साथ, देखिए—

बिरिछ एक लागी दुइ डारा, एकहिं ते नाना परकारा।
मातु के रकत पिता के बिन्दू, उपने दुवौ तुरक औ हिन्दू॥

जीवन-वृत्त—

जायसी के ग्रन्थों मे उसके जन्म और जीवन के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत उल्लेख आता है। उन्होंने आख़िरी क़लाम में लिखा है—

भा औतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

यदि यह पाठ ठीक मान लिया जाय तो इसके आधार पर हम यह कह सकते हैं उनका जन्म ९०० हिजरी में हुआ था और तीस वर्ष की उम्र में उनकी गिनती कवियों मे होने लगी थी। उनकी पद्मावत लिखे जाने की तिथि के सम्बन्ध में दो मत हैं—फ़ारसी लिपि में लिखे हुए होने के कारण उसको नौ सौ सत्ताईस भी पढ़ सकते हैं और नौ सौ सैंतालीस भी। उसमे शेरशाह सुलतान की 'बादशाहे वक़्त' के रूप मे वन्दना आई है—'सेरसाह देहली सुलतानू, चारिउ खंड तपै जस भानू'। शेरशाह का शासन-काल ९४७ में ही प्रारम्भ होता है। यदि जन्म सन्

९०० हिजरी में माना जाता है तो सत्ताईस वर्ष की अवस्था में ऐसी प्रौढ़ पुस्तक का लिखा जाना कम सम्भव प्रतीत होता है। सन् ९०० हिजरी करीब सन् १५४२ ईसवी के बैठता है, यही जायसी की जन्म-तिथि मानना चाहिए। उनका 'आखिरी कलाम' सन् ९३६ हिजरी में लिखा गया था।

उनका निवासस्थान जायस में था—उसका उल्लेख इस प्रकार आता है—

जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आय कवि कीन्ह बखानू॥

ऐसा मालूम होता है कि जायस उनका जन्म-स्थान नहीं था, वे वहाँ पर कहीं से आकर रहे थे। इनको यहाँ सत्संग मिला। यहाँ वे आये चार दिन के मेहमान होकर (इसका लाक्षणिक अर्थ भी हो सकता है) 'तहाँ दिवस दस पाहुने आएऊँ भा वैराग बहुत सुख पाएऊँ'। वे निज़ामउद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में दीक्षित थे और उनके ग्रन्थों से मालूम पड़ता है कि उनके दीक्षा-गुरु का नाम सैयद अशरफ़ जहाँगीर था। उनका उन्होंने बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है।

सैयद अशरफ पीर पियारा।
जेहि मोह पंथ दीन्ह उजियारा॥

जायसी वृद्ध होकर मरे होंगे। उन्होंने अपनी वृद्धावस्था का उल्लेख इस प्रकार किया है—

मुहमद विरिध वैस जो भई।
जोवन हुत, सो अवस्था गई॥

बल जो गएउ कै खीन सरीरू।
दृष्टि गई नैनहि देइ नीरू॥
दसन गए कै पचा कपोला।
बैन गए अनुरुच देइ बोला॥

काज़ी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने जायसी की मृत्यु-तिथि चार रजब ९४९ हिजरी बतलाई है। यदि उनका जन्म सन् ९०० माना जाय तो वे मृत्यु के समय ४९ वर्ष के होंगे किन्तु ऊपर के वर्णन से मालूम होता है कि उन्होंने बड़ी उम्र पाई थी। ४९ वर्ष की अवस्था मे ऐसी दशा का होना कम सम्भव है।

ग्रन्थ—

जायसी ने तीन ग्रन्थ लिखे हैं।

(१) आख़िरी कलाम (२) पद्मावत (३) अख़रावट। आख़िरी कलाम उन्होंने ३६ वर्ष की अवस्था मे लिखा था।

नौ सै बरस छत्तीस जो भए।
तब एह कथा आखर कहे॥

आख़िरी कलाम में कियामत के समय हज़रत मुहम्मद साहब की महत्ता का वर्णन है। उन्होंने अपनी उम्मत के (सम्प्रदाय के लोगों के) गुनाहों को अपने ऊपर लेकर अपने अनुयायियों को 'गुसाईं' परमात्मा के दर्शन कराये और बहिश्त के सुखों का उपभोग कराया।

पद्मावत—

यह एक प्रेम आख्यान है। इसका पूर्वभाग जो तोता के द्वारा पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुन कर रत्नसेन के सिंहल-

द्वीप जाने, और शिवजी की कृपा से पद्मिनी को प्राप्त करने से सम्बन्ध रखता है, लोक-वार्त्ता पर अवलम्बित है और उत्तर भाग का ऐतिहासिक आधार है किन्तु उस भाग में कवि ने अपनी कल्पना से काम लिया है। राघवचेतन का अलाउद्दीन को लाना तथा रत्नसेन का देवपाल के हाथों मारा जाना इतिहास-सम्मत नहीं है। इस ग्रन्थ पर नाथ-पथ का भी प्रभाव है। सिंहलद्वीप नाथ-पंथियों को सिद्ध-पीठ है। शिवजी की कृपा से पद्मिनी का प्राप्त होना भी उसी प्रभाव का द्योतक है। उसमें हठयोग-सम्बन्धी वर्णन भी है 'नव पौरी पर दसके द्वारा' आदि इस पुस्तक मे लौकिक प्रेम-कथा के सहारे आध्यात्मिक तत्त्व की अभिव्यक्ति की गई है।

अखरावट—

अखरावट का सम्बन्ध आखरों (अक्षरों) से है। इसमें कबीर की बाराखड़ी की पद्धति पर एक-एक अक्षर से शुरू होने वाली पंक्तियाँ वर्णमाला के क्रम से दी गई है।

प्रेम-गाथाओ की परम्परा —

प्रेम-मार्ग की परम्परा वैसे तो उषा अनिरुद्ध की कथा चली आती है किन्तु उसका प्रौढ़ रूप मुसलमान कवियो मे दिखाई पड़ता है। पद्मावत मे चार कथाओं का उल्लेख है वह इस प्रकार है—

> विक्रम धँसा प्रेम बारा। सपनावति को गएउ पतारा॥
> मधूपाछ मृगु धावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
> राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥

साधु कुँवर खंडावत जोगू। मधु मालति कँह कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा॥

इस प्रकार कुतबन (संवत् १५५० के लगभग) की मृगावती मंझन की मधुमालती, मुग्धावतो और प्रेमावती पिछली दो का अभी पता नहीं लगा है, इन चार प्रेम-कथाओं का जायसी में उल्लेख आता है।

प्रेम-गाथाओं की विशेषताएँ

इन प्रेम-गाथाओं की पाँच विशेषताएँ हैं (१) ये चरित्र काव्य मसनवियों के ढङ्ग पर रचे गये है। इनके आरम्भ मे खुदा रसूल, गुरु और बादशाहे वक्त की वन्दना है और इनमें सर्गो का विभाजन नही है वरन् स्थान-स्थान पर घटनाओं के अनुकूल शीर्षक दे दिये गये है। (२) ये पूर्वी हिन्दी अर्थात् अवधी मे दोहा चौपाइयों मे लिखी गई हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस में दोहा-चौपाई के ही क्रम का अनुसरण किया है। (३) ये प्रेम-कहानियाँ मुसलमानो की ही लिखी हुई है और इनमे मुसलमानी संस्कृति की झलक मिलती है। (४) ये सब कथाएँ हिन्दू जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। (५) इनमे लौकिक प्रेम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की व्यञ्जना की गई है।

पद्मावत का महाकाव्यत्व—

यद्यपि पद्मावत मसनवी ढङ्ग पर लिखी गई है और वह सर्गबद्ध नहीं है तथापि उसके प्रबन्ध-कौशल, कथानक के बहुशाखायुत संघर्षमय विस्तार, प्रकृति-चित्रण आदि वर्ण्य

विषयों के समावेश, विचारों की उदात्तता रस-परिपाक और उसके सांस्कृतिक पक्ष के कारण उसको महाकाव्य की संज्ञा देना अनुचित न होगा। उसका परिणाम दुःखमय अवश्य है किन्तु वह गौरवपूर्ण है। रत्नसेन ने क्षत्रिय आदर्शों के अनुकूल वीरगति पाई और उसकी रानियों ने सती होकर पातिव्रत धर्म का पालन किया। इसमें आधिकारिक और प्रासङ्गिक दोनों ही प्रकार की कथाएँ बड़े सुन्दर ढङ्ग से गुम्फित हैं। प्रासङ्गिक कथाएँ जैसे गोराबादल की कथा, राघव चेतन की कथा, देवपाल दूती प्रसङ्ग आदि आधिकारिक कथा के अग्रसर करने में सहायक हुई हैं। यद्यपि लम्बे वर्णन कहीं-कहीं कथाप्रवाह में बाधक हुए तथापि प्रबन्ध-निर्वाह सुन्दर ढग से हुआ है कोई प्रसङ्ग अनावश्यक होकर नहीं आया है। समुद्र से जो रत्न मिले थे वे भी अलाउद्दीन की भेंट में काम आये।

रत्नसेन का बन्दी बना कर दिल्ली भेजा जाना यद्यपि इतिहास-विरुद्ध है तथापि वह कथावस्तु के निर्वाह में अधिक सहायक होता है। उसके बिना दूती और जोगिन का वृत्तान्त, रानियों का विरह और विलाप, तथा गोराबादल के प्रयत्नों के वर्णन में वह व्यापकता नहीं आती जो इस प्रकार से लाई जा सकी है। आधिकारिक कथा के दो भाग हैं—पद्मावती की प्राप्ति में नायक को फल-सिद्धि हो जाती है किन्तु विवाह के पश्चात् से सती होने तक की कथा कम महत्त्व की नहीं है। विपत्ति की कसौटी पर प्रेम की परीक्षा होती है—पद्मावती के प्रेम की परीक्षा और उसके बुद्धि-कौशल का उद्घाटन दूसरे भाग में

ही होता है। इस प्रकार ये दो कथाएँ न होकर एक ही कथा के आवश्यक अङ्ग है। मृत्यु का चिर आध्यात्मिक मिलन के पूर्व भौतिक मिलन आवश्यक था। यही दोनों कथाओं की अन्विति है। सती होना आत्म बलिदान की चरम सीमा है—यही फल-सिद्धि है।

वियोग-वर्णन—

पद्मावती में प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष दोनों का अच्छा परिपाक हुआ है किन्तु उसमें प्रधानता वियोग पक्ष की ही है। नागमती का एकाङ्गी विरह और रत्नसेन और पद्मावती का उभयपक्षी विरह यद्यपि अत्युक्तियों से पूर्ण है तथापि बड़ा मार्मिक है। अत्युक्तियों का शाब्दिक अर्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लगाया जाय तो उनकी हास्यास्पदता बहुत अंश में दूर हो जाती है। यद्यपि हेतूत्प्रेक्षा (जैसे कौआ काला तो है ही किन्तु उसके कालेपन का कारण विरह बतला दिया गया) के कारण हास्यास्पदता किसी अंश में कम हो गई है तथापि बिहारी के से, वस्तुस्थिति में अन्तर डालने वाले, स्थलों का भी जायसी में अभाव नहीं है, देखिए—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह की बात।
सोइ पंखी जाइ जरि, तरिवर होहि निपात॥

संवेदना के कारण प्रतीति मे अन्तर आना तो स्वाभाविक है ही—'जानहुँ अगिनि के लगे पहारा' किन्तु जहाँ वस्तु-स्थिति में अन्तर डाला गया है वहाँ, जैसे ऊपर कहा गया है लाक्षणिक अर्थ लगाना अधिक युक्ति-युक्त होगा। जायसी ने विरह की

व्यापकता सारे संसार में दिखाई है। सारा संसार विरही के साथ विरहमय हो जाता है—

> नैनन चली रकत कै धारा, कंथा भीज भएउ रतनारा
> सूरज बूढि उठा हुइ ताता, औ मजीठ टेसू बन राता॥
> औ बसन्त राता वनसपती, और राते सब जोगी जती॥

इस प्रकार प्रकृति द्वारा सहानुभूति का प्रदर्शन कराने को रस्किन ने संवेदना का हेत्वाभास (Pathetic falacy) कहा है तथापि इसके द्वारा व्यक्ति और उसके वातावरण में साम्य आ जाता है और प्रकृति के चेतनाधार की व्यञ्जना होने लगती है। सूर ने इस विषय में कुछ अधिक मर्यादा से काम लिया है। सूर ने प्रकृति के वे ही अङ्ग लिये है जो कृष्ण से सम्बन्धित थे। जमुना ही 'विरह जुर' से काली होती है। उन को गोपियाँ मधुवन से ही पूछती है—'तुम कत रहत हरे'

आचार्य शुक्लजी ने रतनसेन के मिलन से पूर्व के प्रारम्भिक विरह-वर्णन को अस्वाभाविक बतलाया है और उस तरह के प्रेम को प्रेम न कह कर लोभ कहा है। वे इस विषय में अलाउद्दीन और रतनसेन में कोई अन्तर नहीं पाते। दोनों ही रूप के लोभी हैं किन्तु पीछे का वृत्तान्त रतनसेन को प्रेमी सिद्ध कर देता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि शाब्दिक गुण-वर्णन या चित्र-दर्शन प्रत्यक्ष दर्शन की बराबरी नहीं कर सकता है तथापि ऐसी परम्परा पहले से भी रही है। दमयन्ती ने भी हंस के द्वारा नल का वर्णन सुना था फिर जायसी के रतनसेन को ही रूप का लोभी ठहराना उसके साथ अन्याय होगा। इसके अतिरिक्त

यह खराबी जो हुई है वह रूपक निर्वाह के कारण है। गुरु के शाब्दिक उपदेश से साधक के मन में प्रेम जाग्रत हो उठता है। रूपक के निर्वाह के कारण ही यह मनोवैज्ञानिक अस्वाभाविकता आ जाती है।

यद्यपि पद्मावती के प्रेम में किसी प्रकार की न्यूनता नही है तथापि नागमती के विरह में एक विशेष तीव्रता और मार्मिकता है। नागमती को पति-वियोग तो था ही किन्तु सपत्नी के प्रति ईर्ष्याभाव ने उसको और भी तीव्र बना दिया था फिर भी नागमती मे एक विशेष आत्म-त्याग है जो उसको बहुत ऊँचा उठा देता है—

मोह भोग सो काम न वारी, सौंह दिस्टि की चाहन हारी।

नागमती के विरह-वर्णन मे ऐन्द्रियता की अपेक्षा मानसिक पक्ष का प्राधान्य है—उसका दैन्य बड़ा मर्म-भेदी है 'पुष्य नखत सिर ऊपर आवा, हौ बिन नाह मन्दिर को छावा' मे लोक-पक्ष तो नाम को ही है (आचार्य शुक्लजी तो लोक-पक्ष के विशेष भक्त थे इसलिए वे उसे यहाँ भी घसीट लाये हैं।) किन्तु इसमें जो दैन्य और पति पर निर्भरता की व्यञ्जना है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है।

नागमती के विरह-वर्णन मे बारहमासा एक विशेष स्थान रखता है। बारहमासा की परम्परा रस-सिद्धान्त मे उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। संयोग मे जो प्रकृति सुखानुभूति को तीव्रता प्रदान करती है वियोग में वही प्रकृति बदली हुई मनोदशा के कारण पूर्वानुभूत सुखों की स्मृति दिलाकर वेदना को उद्दीप्त

करती है। 'बिनु गुपाल वैरिन भई कुञ्जै' नागमती कहती है—

खडग बीजु चमकै चहुँ ओरा, बुंद बान बरसहि चहुँ ओरा।

× × ×

कातिक सरद चंद उजियारी, जग सीतल हौं विरहै जारी॥

विरहिणी जब अपनी दशा की दूसरों की सुखमय अवस्था से तुलना करती है तब उसका दुःख और भी तीव्र हो उठता है।

'अबहुँ निठुर आउ एहिबारा, परब दिवारी होइ संसारा।
सखि झूमुक गाँवे अंग मोरी, हौं झुराउँ बिछुरी मोरि जोरी॥'

विरह की दशा मे व्यक्ति और उसके वातावरण में पूरा सामञ्जस्य हो जाता है। उसमे व्यञ्जना यह रहती है कि जब शरीर में आकर दुखद ऋतु ने डेरा डाल दिया तब उससे भाग कर कहाँ जाय? सूर ने भी 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' कह कर इस प्रकार की व्यञ्जना की थी। जायसी के वर्णन देखिए—

बरसैं मघा झकोर झकोरी, मोर दुइ नैन चुवै जस ओरी।

× × ×

तन जस पियर पात भा मोरा, तिहि पर विरह देइ झकझोरा॥

विरह-वर्णन मे कल्पना के सहारे दूर की उड़ान भी अच्छी ली गई है। नागमती के हृदय की अभिलाषा देखिए। उसमें अपने शरीर को भस्म करके प्रियतम से मिलन की आशा प्रकट की गई है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाय।
मकु तिहि मारग उडि परै, कंत धरैं जहँ पाय॥

इसमें दैन्य और उत्कंठा का सम्मिश्रण दर्शनीय है। नाग-

मती को चाहे रूपक के निर्वाह के लिए दुनिया का धन्धा कहा गया हो तथापि उसमें हिन्दू रमणी की पति-भक्ति पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुई है।

संयोग-श्रृङ्गार—

जायसी को अपने पद्मावत में जितनी सफलता वियोग-वर्णन में मिली है उतनी संयोग में नहीं। पद्मावती और रतन-सेन के प्रथम समागम के समय हास्य-विनोद का विधान तो अवश्य किया गया है पर विनोद का भाव विकसित भी नहीं हो पाता कि रसायनों की परिभाषाएँ और व्याख्याएँ आ दबाती हैं। बहुज्ञता-प्रदर्शन की लालसा ने रसज्ञता को आच्छादित कर दिया है, फिर भी उस वर्णन मे आत्म-समर्पण की भावना के कारण सजीवता आ गई है—

साजन लेइ पठावा, आयुस जाइ न मेट।
तन-मन जोबन साजि कै, देइ चली लेइ भेट॥

तीनों की भेंट में पूर्ण आत्म-समर्पण आ जाता है। मन की ही भेंट प्रधान है। सौन्दर्य का भी वर्णन देखिए—

पदमिनि गवन हंस गए दूरी।
कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घट चन्द सकाना।
दसन देखि कै बीजु लजाना॥

आदि पंक्तियों में संसार भर का सौन्दर्य एकत्र किया है पर यह सब मिलकर भी पद्मावती के सौन्दर्य के सम्मुख लज्जित

है। पर यह वर्णन कवि परम्परानुसार ही है, इसमें नवीनता कुछ नहीं।

दोनों के मिलने पर आपस में जो हास्य-विनोद हुआ है उसने इस वर्णन को मुहर्रमी होने से बचा लिया है। हावों की सम्यक् योजना की भी कुछ कमी है, इस कारण संयोग-वर्णन में सजीवता नही आने पाई। छेड़छाड़ कही तो बढ़कर फटकार तक पहुँच गई है।

पहले पद्मावती मे प्रिय समागम का भय दिखाकर उसे नवोढ़ा के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। पश्चात् उसके मुख से ऐसी बाते कहलाई गई है जो उसे प्रौढ़ा प्रमाणित करती है।

पद्मावती के समागम की कुछ पंक्तियाँ अश्लील तक हो गई है। पर अन्यत्र भावात्मक रूप ही प्रधान रहा है।

प्रेमी और प्रेमिका के वार्त्तालाप में श्लेष और अन्योक्ति द्वारा वाक्चातुर्य दिखलाया गया है, जो कि मनोरञ्जक कदापि नहीं कहा जा सकता। इससे तो रसास्वादन में बाधा ही पड़ती है।

इस प्रकार जायसी द्वारा वर्णित संयोग-शृङ्गार यद्यपि सजीव है, उसमें कई कमियाँ रह गई है। उसमें उतनी व्यापकता, तीव्रता और गम्भीरता भी नहीं जितनी कि विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन में है। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि विप्रलम्भ शृङ्गार ही पद्मावत में प्रधान है।

अन्योक्ति वा समासोक्ति

जायसी का झुकाव सूफी मत की ओर था, जिसमें यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा में भेद नहीं माना जाता, फिर भी व्यावहारिक रूप में ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की गई है। जायसी ने अन्त में पद्मावत को अन्योक्ति कह दिया है और बीच-बीच मे उनका प्रेम-वर्णन लौकिक पक्ष से अलौकिक की ओर संकेत करता जान पड़ता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त मे कहा है—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमनि चीन्हा ॥
गुरु सूआ जेइ पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा ॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू ॥"

इस प्रकार प्रेम-पथिक रतनसेन मे सच्चे साधक भक्त का स्वरूप दिखाया गया है। पद्मिनी ईश्वर से मिलाने वाला ज्ञान या बुद्धि है अथवा चैतन्य स्वरूप परमात्मा है, जिसकी प्राप्ति का मार्ग बतलाने वाला सुआ सद्गुरु है। उस मार्ग मे अग्रसर चित्तौड़गढ़ का राजा मन है। राघव चेतन शैतान है, जो प्रेम का ठीक मार्ग नहीं बतलाता, अपितु इधर-उधर भटकाता है। माया-ग्रस्त सुलतान माया है। पद्मावती की छाया अलाउद्दीन को दर्पण में दिखाने का भी आध्यात्मिक अर्थ लगाया जा सकता है। परमात्मा के हमको प्रत्यक्ष दर्शन नही होते हैं। उसका दर्शन हमको संसार के दर्पण द्वारा ही होता है। इस प्रकार यह

समस्त प्रबन्ध व्यंग्य-गर्भित कह दिया गया है। यह रूपक यद्यपि बहुत अंश में ठीक बैठ जाता है, तथापि इस रूपक के कारण कहीं-कहीं औचित्य का निर्वाह नहीं हो पाता। नागमती को 'दुनिया धंधा' कहना उसके साथ अन्याय है। वह सती साध्वी भारतीय पत्नी के रूप में आती है जो विलास की अपेक्षा पति के दर्शन को ही अधिक महत्त्व देती है 'मोहि भोग सो काम न वारी। सौंह दिस्ट की चाहन हारी।' जब पद्मावती को परमात्मा से मिलाने वाली बुद्धि या स्वयं परमात्मा मान लिया जाय तो नागमती को उससे विमुख करने वाली दुनिया का धन्धा कहा जायगा। यहाँ पर रूपक वास्तविकता का साथ नहीं देता। सब जगह रूपक ठीक नहीं बैठता। तोता यदि गुरु है तो उसे मृत्यु मार्जारी का भय क्यों ? अलाउद्दीन को माया कहा गया है और नागमती को दुनिया का धंधा. माया और दुनिया का धन्धा प्रायः एक ही चीज है। रूपक के निर्वाह के लिए पद्मिनी को सिंहलद्वीप का माना है जो गोरख पंथ की सिद्धपीठ है, नहीं तो शुक्लजी के मत से वहाँ का सौन्दर्य तो आकर्षक नहीं है। वहाँ के लोग काले होते हैं।

फिर भी मोटे तौर से रूपक का अच्छा निर्वाह हुआ है किन्तु यदि व्यंग्य अर्थ को ही प्रधानता दी जाय, उसे ही प्रस्तुत मानें तो जहाँ-जहाँ कथा प्रसंग के अतिरिक्त व्यंग्य अर्थ निकले वहाँ-वहाँ अन्योक्ति ही माननी पड़ेगी। पर ऐसे स्थल अधिकतर कथा के अंग है और पढ़ते समय कथा के गौण होने की धारणा किसी पाठक को हो नहीं सकती। इस प्रकार देखने से

उसमें समासोक्ति माननी पड़ेगी। कुल मिलाकर सम्पूर्ण ग्रन्थ में अन्योक्ति भले ही हो पर विशेष स्थलों पर तो समासोक्ति ही माननी चाहिए। राजा रत्नसेन बन्दी करके देहली भेज दिया गया है। वहाँ कवि ने इस प्रसङ्ग को रखते हुए भी देहली को परलोक के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा—

"सो दिल्ली अस निबहुर देसू। केहु पूँछहु को कहै सँदेसू॥
जो कोइ जाइ तहाँ कर होई। जो आवै कछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे गयउ सो बहुरि न आवा॥"

पर यहाँ अन्य अर्थ लेने पर भी हम प्रसंगगत घटनात्मक अर्थ को छोड़ नहीं सकते। अतः इसमें समासोक्ति ही माननी पड़ेगी। यदि दिल्ली को गौण बना कर परलोक वाले अर्थ को प्रधानता दी जाती तो अन्योक्ति हो जाती, पर यहाँ दिल्ली को गौण बनाया नहीं जा सकता। पद्मावत की कथा को हमें प्रस्तुत मानकर व्यंग्य द्वारा आध्यात्मिक अर्थ लगाते है।

अन्योक्ति और समासोक्ति में यही अन्तर है कि अन्योक्ति में व्यङ्ग्यार्थ को ही मुख्यता मिलती है। 'बाज पराये पानि पर तू पच्छीनु न मार।' इसमें बाज़ और पक्षियों को मुख्यता नहीं है। इसमें मिरज़ा राजा जयशाह द्वारा शाहजहाँ के आश्रय में हिन्दू राजाओं के सताये जाने की बात को मुख्यता दी है। समासोक्ति में दोनों को मुख्यता दी जाती है अभिधार्थ को भी और उससे व्यञ्जित दूसरे अर्थ को भी। पद्मावत में दोनों की ही मुख्यता है। इसलिए उसे समासोक्ति कहना अधिक तर्क-सम्मत है।

रहस्यवाद—

जीव का दृश्य जगत् से ऊँची किसी श्रेष्ठतम सत्ता से भावमय सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा तथा उस इच्छा की पूर्ति के साधनों तथा पूर्ति व अपूर्ति के सुख-दुःखमय अनुभवों के वर्णनों को रहस्यवाद कहते हैं। ये वर्णन 'गूँगे के गुड़' की भाँति भाषा की शक्ति से परे होते हैं और सैना-बैना द्वारा ही समझाये जा सकते हैं। नश्वर स्वर से अनश्वर के गीत गाना कोई सहज बात नहीं। यह आध्यात्मिक अनुभव लौकिक अनुभव से ऊँचा होता है। इससे रहस्य की भावना रहती है। जिज्ञासा से आरम्भ करके मिलन तक कई श्रेणियाँ हैं। कभी-कभी क्षणिक मिलन के सुख के पश्चात् भी घोर विरह का सामना करना पड़ता है।

यद्यपि मुसलमानी धर्म में ईश्वर और जीव का सम्बन्ध मालिक और बन्दे का-सा भयप्रधान है (कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि वह इतना निकट है जितनी कि गर्दन की नस) तथापि मुसलमान सूफियों के यहाँ वह सम्बन्ध प्रेम का हो गया है। सूफी मत का चलन मुहम्मद साहब के प्रायः दो सौ वर्ष बाद हुआ। सूफी शब्द सूफ से जिसका अर्थ सफेद ऊन है बना है। सूफी लोग सादा जीवन व्यतीत करने के लिए मोटे ऊन के कपड़े पहनते थे। भारत में सूफी सम्प्रदाय का आरम्भ सिंध से हुआ। जायसी इन्हीं रहस्यवादी सूफियों में से थे।

जायसी के रहस्यवाद में रहस्यवाद के प्रायः सभी अङ्ग आगये हैं। जायसी अद्वैतवादियों की भाँति एक ही सत्ता को

सारे विश्व मे व्याप्त पाते है । सारा दृश्य-जगत् उसी एक परमात्मा का प्रसार है 'बहुतै जोति जोति ओहि भई रवि ससि नखत दिपहिं उहि जोती' । जायसी मे प्रेम और भावना द्वारा ही अद्वैत की सिद्धि की है। सूफी सम्प्रदाय का रहस्यवाद प्रेम द्वारा द्वैत से अद्वैत को पहुँच जाता है । उसमें कबीर का-सा बूँद और समुद्र का पूर्ण तादात्म्य नहीं है, किंतु वह प्रेम के कारण सारे संसार को आराध्यमय अथवा तुलसीदास जी के शब्दों में सियाराममय देखने लगता है।

परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नावँ।
जहँ देखौ तहँ ओ ?, दूसर नहि जहँ जावँ ॥

जायसी एक ही ज्योति से सर्व ज्योतियों का होना मानते है।

जेहि दिन दसन ज्योति निरमई।
बहुतै ज्योति ज्योति ओहि भई ॥

जायसी मे उपनिषदों के प्रतिबिम्बवाद की झलक मिलती है—'नयन जो देखा कमल भा, हीर नख जोति' । सारा नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जायसी ने गुरु की भी महिमा बहुत जगह गाई है और इस आख्यान में कहीं तो हीरा-मन को गुरु माना है कही पद्मावती को। जहाँ पर पद्मावती को गुरु माना है वहाँ पर गुरु और परमात्मा को एक कर दिया है। देखिए गुरु से एकाकार होने की बात का क्या सुन्दर वर्णन है—

जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा।
कोटि अँतरपट बीचहिं दीन्हा ॥

जब चीन्हा तब और न कोई।
　　　　तन मन जिउ जीवन सब सोई॥

असली साधक मे अहंकार नहीं रहता उसका भी जायसी ने दिग्दर्शन कराया है।

"हौ हौं करत धोख इतराहीं। जब भी सिद्ध कहां परिछाहीं॥

जायसी मे प्रेम की पीर और मिलन की आकांक्षा बड़ी सुन्दर रीति से दिखाई गई है। जायसी ने मिलन के सुख और वियोग के दुःख में प्रकृति का उल्लास और विषाद दिखलाया है। उन के रहस्यवाद में इतनी विशेषता है कि उसमें प्रेम की पीर दोनों तरफ एकसी दिखाई है। कबीर मे प्रेम की पीर स्त्री की ओर से है और एकाङ्गी है।

जायसी में पद्मावती भी मिलन के लिए उतनी ही उत्सुक है जितना कि रतनसेन। पद्मावती रतनसेन से मिलने आती है वह रतनसेन के वक्षस्थल पर चन्दन के अक्षरों में प्रेम-संदेश लिख देती है। उसी ने अपने विवाह की इच्छा प्रकट कर तोते को भेजा था। परमात्मा भी साधक से मिलना चाहता है। रतनसेन की तरह साधक ही सोता रहता है और अवसर चूक जाता है।

कबीर और जायसी के रहस्यवाद में एक और यह अन्तर है कि जायसी ने अपने आराध्य को सारे संसार मे व्याप्त देखा है, और कबीर ने उसको अपने भीतर ही देखने का प्रयत्न किया है—'मो को क्या ढूँढै बंदे मैं तो तेरे पास में' जायसी ने ईश्वर और जीव के मिलन की इच्छा को स्वाभाविक बतलाया

है। जीव और परमात्मा दोनों मिले हुए थे वे अलग हो गये। इसीलिए जीव मे पुनर्मिलन की इच्छा रहती है।

धरती सरग मिले हुत दोय।
के दिनि मार केहि दीन्ह बिछोह॥

पिलग्रिम्स प्रोग्रेस (Pilgrim's Progress) मे जैसी साधक के मार्ग की कठिनाइयाँ दिखलाई गई हैं वैसी पद्मावत मे भी दिखाई गई है, भेद इतना ही है कि पिलग्रिम्स प्रोग्रेस अन्योक्ति (Allegory) है। पद्मावती मे ऐतिहासिक कथानक के साथ-साथ मौका आने पर अन्योक्तियों द्वारा रहस्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में थोड़ा बहुत जोग और रसायन का भी पुट आगया है। जायसी ने ब्रह्मरन्ध्र से अमृतस्राव और इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के ज्ञान का भी परिचय दिया है। सूफियों के यहाँ नाद की अधिक महिमा गाई गई है। जायसी ने भी सूफ़ी परम्परा के अनुकूल नाद की प्रशसा की है किन्तु उनको नाद का प्रसङ्ग घसीट कर लाना पड़ा है। जायसी ने अन्य मुसलमानों की भाँति चार ही तत्त्व माने हैं। आकाश तत्त्व नहीं माना।

भाषा और छन्द—

जायसी ने पद्मावत अवधी भाषा मे लिखी है। रामचरितमानस की और इसकी अवधी में यह अन्तर है कि रामचरितमानस की पश्चिमी अवधी है और यह पूर्वी अवधी है। इसके अतिरिक्त रामचरितमानस की भाषा परिमार्जित और साहि-

त्यिक है। जायसी की भाषा बोल-चाल की है। पद्मावत और रामचरितमानस दोनों मे ही चौपाई और दोहों का क्रम रक्खा गया है किन्तु तुलसी ने चौपाइयों की सम संख्या के पश्चात् अर्थात् आठ पंक्तियों के बाद दोहा रक्खा है किन्तु जायसी ने विषम अर्थात् सात के बाद दोहा रक्खा है। यद्यपि जायसी दोहा-चौपाई-शैली की पद्धति को प्रबन्ध-काव्य मे प्रतिष्ठित करने में मार्ग-प्रदर्शक कहे जा सकते है तथापि गोस्वामीजी का क्रम छन्दशास्त्र के अधिक अनुकूल बैठता है क्योंकि दो पंक्तियों को मिलाकर ही चौपाई बनती है। चौपाई में चार चरण होते हैं। आठ चार से विभाज्य है किन्तु सात नही है। तुलसीदासजी ने प्रसङ्गानुकूल और छंदों को भी अपनाया है। जायसी ने अपने को दोहे चौपाइयों मे ही सीमित रक्खा है।

अलङ्कार-योजना—

जायसी के काव्य मे विशेषकर पद्मावत में व्यञ्जना का प्राधान्य होने के कारण रूपकों और अन्योक्तियों का तो समावेश हुआ ही है किन्तु और अलङ्कारों की भी कमी नही है। जायसी ने शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों को अधिक महत्त्व दिया है। यद्यपि जायसी ने अपनी उपमाओं उत्प्रेक्षाओं को अनेकों बार दुहराया है तथापि उनमे मौलिकता और नवीनता है। जायसी को हेतूत्प्रेक्षाएँ अधिक प्रिय हैं। उनके समतामूलक अलङ्कारों मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत की परस्परानुकूलता रखी गई है और इस कारण उनके अलङ्कारों में विशेष चमत्कार आ गया है जहाँ वे पद्मावती की कमलिनी से उपमा

देते है वहाँ रूप और गुण मे ही नहीं नाम मे भी साम्य हो जाता है। जायसी के उपमानों द्वारा सूक्ष्म तत्त्वों की भी व्याख्या हो जाती है। प्रेम को बेली तो सभी कहते हैं किन्तु जायसी बेली की पूरी व्यञ्जनाओं को प्रकाश में ले आये है।

प्रीति बेलि ऐसे तन ढाढा, पलुहत सुख बाढत दुख बाढा।

× × × ×

प्रीति अकेलि बेलि चढि धावा। दूसरि बेलि न सँचरै पावा॥

उनकी उपमाओं मे कही-कही विराट की भावना की झलक आ जाती है क्योंकि उनके काव्य में आध्यात्मिक तत्त्व व्यङ्ग्य रहता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके प्रस्तुत (उपमेय) अप्रस्तुत उपमान से कही ऊँचे उड़ना चाहते हैं।

दसन चौक बैठे जनु हीरा, औ विच-विच रँग स्याम गँभीरा।

जस भादो निसि दामिनि दीसी, चमकि उठै तस बनी बतीसी॥

वह सुजोति हीरा उपराही। हीरा जोति सो तेहि परछाहीं।

उत्प्रेक्षा में एक साथ प्रतीप की व्यञ्जना आ जाती है। जायसी के अलङ्कार रस के परिपाक में सहायक हुए है। पद्मावत मे विषाद मे अलङ्कार का प्रयोग कर बिरह की विषमता को द्विगुणित कर दिया है। विरहिणी के प्रति करुणा जाग्रत हो जाती है। विरहिणी की रात काटे नहीं कटती। मन बहलाव के लिए यह वीणा हाथ मे लेती है किन्तु फल उलटा होता है। चन्द्र की सवारी का मृग उसके नादास्वादन के लोभ से वहीं ठहर जाता है और रात और भी बढ़ जाती है और उसके साथ विरहिणी का विरह भी बढ़ जाता है।

'गहे बीन मकु रैन बिहाई, ससि बाहन तहँ रहै ओनाई'

इस बढ़ते हुए राग के लिए सिंह का चित्र खींच कर हिरन को भगाया जाता है। इसमे भी रात्रि में बढ़ते हुए विरह की व्यञ्जना है और साथ ही द्वितीय पर्यायोक्ति का चमत्कार भी है।

पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसिहि-विथा-रैनि सब जागै॥

मुद्रा अलंकार में भी विरह-वर्णन के साथ शाब्दिक चमत्कार आगया है इसमे पक्षियों के नाम बन जाते है—

धौरो पंडुक कह पिउ नाऊँ। जौ चित रोखन दूसर ठाऊँ॥
जाहि बया होइ पिउ कंठ लवा। करे मेराव सोइ गौरवा॥

जायसी में उपमानों की पुनरावृत्ति बहुत है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के प्रभाव से वीभत्सता भी आ गई है। हथेली की लाली का वर्णन देखिए—

हिया काढि जनु लीन्हेसि हाथा।
रुधिर भरी अँगुरी तेहि साथा॥

जायसी की बहुज्ञता—

यद्यपि जायसी ने पाण्डित्य-प्रदर्शन मे कई जगह भद्दी भूले की हैं और उनके बहुत से वर्णन अनावश्यक भी हैं, (जैसे इन्द्र को कैलाश पर बैठाना) तथापि जायसी में लोक-व्यवहार का वैसा ही व्यापक ज्ञान दिखाई पड़ता है जैसा कि एक सिद्धहस्त कवि में अपेक्षित है। उन्होंने नाद, रसायन, शकुन, चौसर, भोजन के पकवान आदि के विशद वर्णन किये

हैं। बहुत से स्थानो में उनके सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का भी परिचय मिलता है, जैसे पानी सूख जाने पर तालाब की मिट्टी का फट जाना। एक-दो स्थलों मे वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी समावेश किया गया है, देखिए—

चाँद कहां ज्योति औं करा।
सूरज के ज्योति चाँद निरमरा॥

गुण सम्बन्धी विशेषताएँ—

१—जायसी मे हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का अपूर्व समन्वय है। हिन्दू कथा और आदर्शों को मसनवी पद्धति में ढाला गया है।

२—प्रबन्ध-काव्य का अच्छा निर्वाह हुआ है। यद्यपि वर्णनों मे विस्तार है तथापि क्रम कहीं नहीं टूटा है।

३—प्रेम तत्त्व की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है। प्रेम के लिए जो त्याग और आत्म-बलिदान चाहिए वह अच्छी तरह दिखाया गया है।

४—पद्मावत यद्यपि प्रबन्ध-काव्य है तथापि उसमे वस्तु-वर्णन की अपेक्षा भावो को अधिक प्रधानता दी गई है।

५—कथोपकथन मे पात्र अपनी वाक्पटुता के कारण सजीव हो उठे है। जब रतनसेन घर लौट आया तब नागमती कैसा सुन्दर उपालम्भ देती है।

तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसत मेह।

दोष—

१—पुनरुक्तियाँ बहुत अधिक है। हर बात में रतन पदार्थ चाँद,

सूरज और राता आ जाते है।

२—अनावश्यक पाण्डित्य-प्रदर्शन—लम्बे वर्णनों के कारण प्रबन्ध निर्वाह में बाधा पड़ती है।

३—अत्युक्तियों की भरमार—'रोवत बूढि उठा संसारू।'

४—हिन्दू कथाओं का अपूर्ण ज्ञान।

५—च्युत संस्कृति—अर्थात् व्याकरण । विरुद्ध प्रयोग 'दसन देखि विज्जु लजाना' विज्जु स्त्रीलिंग है।

६—फ़ारसी के मुहावरों का हिन्दी मे अनुवाद जो हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं बैठता। लाल मुँह होना फारसी मे प्रसन्नता का द्योतक है किन्तु हिन्दी मे गुस्से का द्योतक 'होय मुख रात सत्य के बाता'।

महाकवि सूरदास

हिंदुओं के स्वातंत्र्य के साथ ही साथ वीर-गाथाओं की परंपरा भी काल के अँधेरे में जा छिपी। उस हीन दशा के बीच वे अपने पराक्रम के गीत किस मुँह से गाते और किन कानों से सुनते? जनता पर गहरी उदासी छा गई थी। राम और रहीम को एक बतानेवाली बानी मुरझाये मन को हरा न कर सकी; क्योंकि उसके भीतर उस कट्टर एकेश्वरवाद का सुर मिला हुआ था, जिसका ध्वंसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनी आँखों देख रहे थे। सर्वस्व गँवाकर भी हिंदू जाति अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रखने की वासना नहीं छोड़ सकी थी। इससे उसने अपनी सभ्यता, अपने चिर-संचित संस्कार आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया; और उनकी भक्ति का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। जिस प्रकार वंग देश में कृष्ण चैतन्य ने उसी प्रकार उत्तर भारत में वल्लभाचार्य जी ने परम भाव की उस आनंदविधायिनी कला का दर्शन कराकर जिसे प्रेम कहते हैं, जीवन में सरसता का संचार किया। दिव्य प्रेम-संगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता बह गई।

जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता

में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिलकंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील-कुंजों के बीच फैल मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्त्तन करने उठीं, जिनमे सब से ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। ये भक्त-कवि सगुण उपासना का मार्ग साफ करने लगे। निर्गुण-उपासना की नीरसता और अग्राह्यता दिखाते हुए ये उपासना का हृदयग्राही स्वरूप सामने लाने में लग गये। इन्होंने भगवान् का प्रेममय रूप ही लिया; इससे हृदय की कोमल वृत्तियों के ही आश्रय और आलंबन खड़े किये। आगे जो इनके अनुयायी कृष्ण-भक्त हुए वे भी उन्ही वृत्तियों में लीन रहे। हृदय की अन्य वृत्तियों (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी यदि वे चाहते तो कृष्ण में ही मिल जाते; पर उनकी ओर वे न बढ़े। भगवान् का यह व्यक्त स्वरूप यद्यपि एकदेशीय था—केवल प्रेम था—पर उस समय नैराश्य के कारण जनता के हृदय मे जीवन की ओर से एक प्रकार की जो अरुचि सी उत्पन्न हो रही थी उसे हटाने में उपयोगी हुआ। मनुष्यता के सौंदर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णो-पासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।

बाल्य-काल और यौवन-काल कितने मनोहर हैं! उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदासजी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी उसमें गिरे

हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये। उक्त दोनों रसों के प्रवर्त्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं। हिंदी-साहित्य में शृंगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने। उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचने वाले कवियों के समान गिनाये हुए संचारियों से बँधकर चलनेवाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलंभ शृंगार को ही ले, अथवा 'भ्रमर-गीत' को ही देखे तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मै इसी को कवियों की पहुँच कहता हूँ। यदि हम मनुष्य-जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो सूरदासजी की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (शृंगार और वात्सल्य) को लेते है, तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते है। उन क्षेत्रों में इतना अंतर्दृष्टि-विस्तार और किसी कवि का नही। बात यह है कि सूर को 'गीत-काव्य' की जो परंपरा (जयदेव और विद्यापति की) मिली वह शृंगार की ही थी। इसी से सूर के संगीत में भी उसी को प्रधानता रही। दूसरी बात है उपासना का स्वरूप। सूरदासजी वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे, जिन्होंने भक्तिमार्ग में भगवान् का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उसके आक्रमण द्वारा 'सायुज्य मुक्ति' का मार्ग दिखाया था। भक्ति-

साधना के इस चरम लक्ष्य या फल (सायुज्य) की ओर सूर ने कहीं-कहीं संकेत भी किया है; जैसे—

सीत उष्ण सुख दुख नहिं मानै, हानि भए कछु सोच न राँचै।
जाय समाय सूर वा निधि में, बहुरि न उलटि जगत में नाँचै॥

जिस प्रकार ज्ञान की चरम-सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है उसी प्रकार प्रेम-भाव की चरम-सीमा आश्रय और आलंबन की एकता है। अतः भगवद्भक्ति की साधना के लिए इसी प्रेम-तत्त्व को वल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनके अनुयायी कृष्ण-भक्त कवि इसी को लेकर चले। गोस्वामी तुलसीदासजी की दृष्टि व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त लोकपक्ष पर थी, इसी से वे मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित को लेकर चले और उसमे लोक-रक्षा के अनुकूल जीवन की और-और वृत्तियों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरंजन किया।

उक्त प्रेमतत्त्व की पुष्टि मे ही सूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त जान पड़ती है। रति-भाव के तीनों प्रबल और प्रधान रूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दांपत्य रति—सूर ने लिये हैं। यद्यपि पिछले दोनों प्रकार के रति-भाव भी कृष्णोन्मुख होने के कारण तत्त्वतः भगवत्प्रेम के अंतर्भूत ही हैं पर निरूपण-भेद से और रचना-विभाग की दृष्टि से वे अलग रखे गये हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं वे भगवद्विषयक रति के अंतर्गत की ओर आवेंगे; बाललीला के पद वात्सल्य के अंतर्गत और गोपियों के प्रेम-संबंधी पद दांपत्य रति-भाव के अंतर्गत होंगे। हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल

धाराओं से सूर ने बड़ा भारी सागर भरकर तैयार किया है।

कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन मे कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जगाने में समर्थ होती है और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभाव-पक्ष है, दूसरा भाव-पक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते है। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप या नखशिख का कोरा वर्णन ले तो उसमें भी आश्रय का रतिभाव अव्यक्त रूप मे वर्त्तमान रहता है। भाव-पक्ष में सूर की पहुँच का उल्लेख ऊपर हो चुका है। सूरदासजी ने शृंगार और वात्सल्य ये ही दो रस लिये हैं। अतः विभाव-पक्ष मे भी उनका वर्णन उन्हीं वस्तुओं तक परि-मित है जो उक्त दोनों रसों को आलंबन या उद्दीपन के रूप मे आ सकती हैं; जैसे राधा और कृष्ण के नाना रूप, वेश और चेष्टाएँ तथा करील-कुंज, उपवन, यमुना, पवन, चंद्र ऋतु इत्यादि।

विभाव-पक्ष के अंतर्गत भी वस्तुएँ दो रूपों मे लाई जाती हैं—वस्तु-रूप मे और अलंकार-रूप में; अर्थात् प्रस्तुत रूप में और अप्रस्तुत रूप में। मान लीजिए कि कोई कवि कृष्ण का वर्णन कर रहा है। पहले वह कृष्ण के श्याम या नीलवर्ण शरीर को, उस पर पड़े हुए पीतांबर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को,

हाथ में ली हुई मुरली को, सिर के कुंचित केश और मोर-मुकुट आदि को सामने रखता है। यह विन्यास वस्तु-रूप में हुआ। इसी प्रकार का विन्यास यमुनातट, निकुंज की लहराती लताओं, चंद्रिका, कोकिल-कूजन आदि का होगा। इनके साथ ही यदि कृष्ण के शोभा-वर्णन में घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में वह लाता है तो यह विन्यास अलंकार-रूप में होगा। वर्ण्य विषय की परिमिति के कारण वस्तु-विन्यास का जो संकोच 'सूर' की रचना में दिखाई पड़ता है। उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार-रूप में लाये हुए पदार्थों के प्राचुर्य द्वारा पूरी हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रस्तुत रूप में लाये हुए पदार्थों की संख्या सूर में कम, पर अलंकार-रूप में लाये हुए पदार्थों की संख्या बहुत अधिक है। यह दूसरे प्रकार की (आलंकारिक) रूप-योजना या व्यापार-योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही होती है, अतः इसमे लाये हुए रूप या व्यापार ऐसे ही होने चाहिएँ जो प्रभाव में उन प्रस्तुत रूपों या व्यापार के समान हों। सूर अलंकार-योजना के लिए अधिकतर ऐसे ही पदार्थ लाये हैं।

सारांश यह कि यदि हम बाह्य सृष्टि से लिये रूपों और व्यापारों के संबंध में सूर की पहुँच का विचार करते हैं तो यह बात स्पष्ट देखने में आती है कि प्रस्तुत रूप में लिये हुए पदार्थों और व्यापारों की संख्या परिमित है। उन्होंने कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंग, मुद्राओं और चेष्टाओं, यमुना-तट, वंशीवट, निकुंज, गो-चारण, वन-विहार, बाल-लीला, चोरी, नटखटी तथा

कवि-परिपाटी में परिगणित ऋतु-सुलभ वस्तुओं तक ही अपने को रखा है।

इसके कारण दो हैं। पहली बात तो यह है कि इनकी रचना "गीति-काव्य" है जिसमें मधुर ध्वनि-प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक भर पर्याप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदासजी के समान सूर-सागर प्रबंध-काव्य नहीं है जिसमे कथा-क्रम से अनेक पदार्थों और व्यापारों की शृंखला जुड़ती चली चलती है। सूरदासजी ने प्रत्येक लीला या प्रसंग पर फुटकर पद कहे है, एक पद दूसरे पद से संबद्ध नहीं है। प्रत्येक पद स्वतंत्र है। इसी से किसी एक प्रसंग पर कहे हुए पदों को यदि हम लेते है तो एक ही घटना से संबंध रखने वाली एक ही बात भिन्न-भिन्न रागिनियों मे कुछ फेरफार के साथ बहुत से पदों में मिलती है जिससे पढ़ने वाले का जी कभी-कभी ऊब-सा जाता है। यह बात प्रकृत प्रबंध-काव्य मे नहीं होती।

परिमिति का दूसरा कारण पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदासजी ने जीवन की वास्तव मे दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बाल-वृत्ति और यौवन-वृत्ति। इन दोनों के अंतर्गत आये हुए व्यापार क्रीड़ा, उमंग और उद्रेक के रूप में ही है। प्रेम भी घटनापूर्ण नहीं है। उसमे किसी प्रकार का प्रयत्न-विस्तार नही है जिसके भीतर नई-नई वस्तुओं और व्यापारों का सन्निवेश होता चलता है। लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नही है, उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं गई है; बाल-क्रीड़ा, प्रेम के रंग-रहस्य और उसकी अतृप्त

वासना तक ही रह गई । जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमे वह वस्तु-गांभीर्य नहीं है जो गोस्वामीजी की रचनाओं में है । परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग मे भी वह गभीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग मे है । उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पडता है । सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थी । गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे । सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं । कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज या झाड़ी मे जा छिपते हैं; या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अंतर्द्धान हो जाते है । बस, गोपियाँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है । उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है । पूर्ण वियोग-दशा उन्हें आ घेरती है । यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरह-वर्णन असंगत प्रतीत होगा । पर, जैसा कहा जा चुका है, सूरसागर प्रबंध-काव्य नहीं है जिसमे वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के निर्णय में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है ।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालकृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते है । कृष्ण के केवल बाल-चरित्र का प्रभाव नंद यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ोसियों पर पड़ता दिखाई देता है । सूर का बाल-लीला वर्णन-

ही पारिवारिक जीवन से संबद्ध है। कृष्ण के छोटे-छोटे पैरों से चलने, मुँह में मक्खन लिपटाकर भागने या इधर-उधर नटखटी करने पर नंद बाबा और यशोदा मैया का कभी पुलकित होना, कभी खीझना, कभी पड़ोसियों का प्रेम से उलाहना देना आदि बातें एक छोटे से जन-समूह के भीतर आनंद का संचार करती दिखाई गई है। इसी बाल-लीला के भीतर कृष्ण-चरित का लोकपक्ष अधिकतर आया है; जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, कालीनाग को नाथकर लोगों का भय छुड़ाना। इंद्र के कोप से डूबती हुई बस्ती की रक्षा करने और नंद का वरुणलोक से लाने का वृत्तांत यद्यपि प्रेमलीला आरंभ होने के पीछे आया है पर उससे संबद्ध नहीं है। कृष्ण के चरित्र में जो यह थोड़ा-बहुत लोक-संग्रह दिखाई पड़ता है उसके स्वरूप में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस शक्ति से उस बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया है। जिस ओज और उत्साह से तुलसीदासजी ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है उस ओज और उत्साह से सूरदासजी ने बकासुर, अघासुर, कंस आदि के वध और इंद्र के गर्वमोचन का वर्णन नहीं किया है। कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में ही सामने आते हैं, लोक-शत्रु या लोक-पीड़क के रूप में नहीं। रावण के साथी राक्षसों के समान वे ब्राह्मणों को चबा-चबाकर उनकी हड्डियों का ढेर लगाने वाले या स्त्री चुराने वाले नहीं दिखाई पड़ते। उनके

कारण वैसा हाहाकार नहीं सुनाई पड़ता। उनका अत्याचार 'सभ्य अत्याचार' जान पड़ता है। शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौंदर्य तक ही अपने को रखा है जो प्रेम को आकर्षित करता है। शेष दो विभूतियों को भी लेकर भगवान् के लोक-रंजनकारी स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हमारे हिंदी-साहित्य मे गोस्वामी तुलसीदासजी ने की। श्रद्धा या महत्त्वबुद्धि पुष्ट करने के लिए कृष्ण की शक्ति या लौकिक महत्त्व की प्रतिष्ठा में आग्रह न दिखाने के कारण ही सूर की उपासना सख्य भाव की कही जाती है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के साथ सूरदास द्वारा वर्णित कृष्णचरित का जो थोड़ा बहुत संबंध दिखाई पड़ता है उसका सम्यक् स्फुरण नहीं हुआ है। रहा प्रेमपक्ष, वह ऐकांतिक है। सूर का प्रेमपक्ष लोक से न्यारा है। गोपियों के प्रेमभाव की गंभीरता आगे चलकर उद्धव का ज्ञान-गर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती है। वह भक्ति की एकांत साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती है, लोक-धर्म के किसी अंग का नहीं। सूरदास सच्चे प्रेम-मार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञान-मार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने मे खूब समर्थ हुए हैं; साथ ही उन्होंने उस त्याग को रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित दिखाकर भक्ति-मार्ग या प्रेम-मार्ग की सुगमता भी प्रतिपादित की है।

तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाववाले कर्म और लोकव्यापिनी दशाएँ सूर ने वर्णन के लिए नहीं ली हैं। असुरों के

अत्याचार से दुःखी पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान् का कृष्णावतार हुआ, इस बात को उन्होंने केवल एक ही पद में कह डाला है। इसी प्रकार कागासुर, बकासुर, शकटासुर आदि को हम लोक-पीड़कों के रूप में नहीं पाते हैं। केवल प्रलंब और कंस के वध पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर उक्त कर्म के लोकव्यापी प्रभाव का कुछ आभास मिलता है। पर वह वर्णन विस्तृत नहीं है। सूरदास का मन जितना नंद के घर की आनंद-बधाई, बाल-क्रीड़ा, मुरली की मोहिनी तान, रास-नृत्य, प्रेम के रंग रहस्य और संयोग-वियोग की नाना दशाओं में लगा है उतना ऐसे प्रसंगों में नहीं। ऐसे प्रसंगों को उन्होंने किसी प्रकार चलता कर दिया है। कुछ लोग रामचरितमानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर ऊबते से हैं। उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामीजी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक पभाव का चित्रित किया है जिस पर तीनों लोकों की दृष्टि लगी रहती थी। कृष्ण का गो-चारण और रासलीला आदि देखने को भी देवगण एकत्र हो जाते हैं पर केवल तमाशबीन की तरह।

सूरदासजी को मुख्यतः शृंगार और वात्सल्य का कवि समझना चाहिए; यद्यपि और रसों का भी एकाध जगह अच्छा वर्णन मिल जाता है।

यहाँ तक तो सूर की रचना की सामान्य दृष्टि से समीक्षा हुई। अब इन महाकवि की उन विशेषताओं का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन होना चाहिए जिनके कारण हिंदी-साहित्य में इनका

स्थान इतना ऊँचा है। ध्यान देने की सब से पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सब से पहिली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहिली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने वालों को उलझन में डालने वाली होगी। सूरसागर किसी पहले से चली आती हुई परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा जान पड़ता है, चलने वाली परंपरा का मूल रूप नहीं।

यदि भाषा को लेकर देखते हैं, तो वह ब्रज की चलती बोली होने पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो और प्रांतों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्य-भाषा अपभ्रंश के शब्दों को लिये हुए है। सूर की भाषा बिल्कुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है। 'जाकों' 'तासों', 'वाकों' चलती ब्रजभाषा के इन रूपों के समान ही 'जेहि', 'तेहि' आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अवधी की बोलचाल में तो अब तक है, पर ब्रज की बोलचाल में सूर के समय में भी नहीं थे। पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है; जैसे, 'जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम-बान अनियारो'। 'गोड़', 'आपन', 'हमार' आदि पूरबी प्रयोग भी बराबर, पाये जाते हैं। कुछ पंजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं; जैसे, महँगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द। ये सब बातें एक व्यापक

काव्य-भाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं।

अब हम संक्षेप में उन प्रसंगों को लेते है जिनमें सूर की प्रतिभा पूर्णतया लीन हुई है। कृष्ण-जन्म की आनंद-बधाई के उपरांत ही बाललीला का आरंभ हो जाता है। जितने विस्तृत और विशद रूप मे बाल्य-जीवन का चित्रण इन्होंने किया है उतने विस्तृत रूप मे और किसी कवि ने नही किया। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद है। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अंतःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य-भावों की सुंदर स्वाभाविक व्यंजना की है। देखिए, 'स्पर्द्धा' का भाव, जो बालकों मे स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों से किस प्रकार व्यंजित हो रहा है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?

किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यो ह्वैहै लाँबी मोटी॥

बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कही नही है जितना बड़ा सूरसागर में है। दो-चार चित्र देखिए—

(१) कत हौ आरि करत मेरे मोहन यो तुम आँगन लोटी?
जो माँगहु सो देहुं मनोहर, यहै बात तेरी खोटी।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुटि लिए छोटी॥

(२) सोभित कर नवनीत लिए।

घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए ॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय करि पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयाँ।

(४) पाहुनो करि दै तनक मह्यो।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो।
ब्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वै ढरकि रह्यो।

हार-जीत के खेल में बालकों के 'क्षोभ' के कैसे स्वाभाविक वचन सूर ने रखे है—

खेलत मे को काको गोसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति-पाँति हमते कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

अब यहाँ पर थोड़ा इसका भी निर्णय हो जाना चाहिए कि इन बाल-चेष्टाओं का काव्य-विधान मे क्या स्थान होगा। वात्सल्य रस के अनुसार बालक कृष्ण आलंबन होंगे और नद या यशोदा आश्रय। अत: ये चेष्टाएँ अनुभव के अंतर्गत आती है, पर आलंबनगत चेष्टाएँ उद्दीपन के ही भीतर आ सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भाव-विधान के ही भीतर है। उन्हे अलंकार-विधान के भीतर घसीटकर 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहना मेरी समझ मे ठीक नहीं।

बाल-लीला के आगे फिर उस गो-चारण का मनोरम दृश्य सामने आता है जो मनुष्य जाति की अत्यंत प्राचीन वृत्ति होने के कारण अनेक देशों मे काव्य का प्रिय विषय रहा है। यवन

देश (यूनान) के 'पशु-चारण-काव्य' (Pastoral Poetry) का मधुर संस्कार यूरोप की कविता पर अब तक कुछ न कुछ चला ही जाता है। कवियों को आकर्षित करने वाली गोप-जीवन की सब से बड़ी विशेषता है—प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सब से अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसाय जो आगे चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए; उनमें उतनी स्वच्छंदता न रही। कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश काव्य के आरंभ मे दिलीप को नंदिनी के साथ वन-वन फिराकर इसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है। सूरदासजी ने यमुना के कछारों के बीच गो-चारण के बड़े सुंदर-सुंदर दृश्यों का विधान किया है। यथा—

मैया री ! मोहि दाऊ टेरत।

मोको बनफल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।

यमुना-तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया मे बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँटकर खाते हैं, कभी इधर-उधर दौड़ते है। कभी कोई चिल्लाता है—

द्रुम चढि काहे न टेरत, कान्हा, गैयाँ दूर गई।
धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दई॥

"जे वृषभान दई" कहकर सूर ने पशु-प्रकृति का अच्छा परिचय दिया है। नये खूँटे पर आई हुई गाएँ बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं। इसी से वृषभानु की दी हुई गाएँ चरते समय भी भाग खड़ी होती

है और कुछ दूसरी गाएँ भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं।

वृंदावन के उसी सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए सौंदर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण कौमार-अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़-छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास-परिहास और छेड़-छाड़ के साथ प्रेम-व्यापार का अत्यंत स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूप-चर्चा सुन, या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर, हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरंभ नहीं हुआ है। नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-बोलते, वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण मे अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप मे पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिनमें अनेक प्रकार के प्रति-बंधों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लंबी-चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोक-बंधनों से जकड़े हुए नही दिखाये गये है। जिस प्रकार के स्वच्छंद समाज का स्वप्न अंग्रेज़ कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।

आगे चलकर गोपियों की वियोग-दशा का जो धारा-प्रवाह वर्णन है उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मान-

सिक दशाओं का संचार उसके भीतर है ? कौन गिना सकता है ? संयोग और वियोग दो अंग होने से शृंगार की व्यापकता बहुत अधिक है। इसी से वह रसराज कहलाता है। इस दृष्टि से यदि सूरदास को हम रससागर कहे तो बेखटके कह सकते है। कृष्ण के चले जाने पर सायं-प्रभात तो उसी प्रकार होते हैं, पर "मदनगोपाल बिना या तन की सबै बात बदली"। व्रज में पहले सायंकाल में जो मनोहर दृश्य देखने मे आया करता था वह अब बाहर नहीं दिखाई पड़ता, पर मन से उसकी 'स्मृति' नही जाती—

एहि बेरियाँ बन ते ब्रज आवते।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ॥

संयोग के दिनों मे आनंद की तरंगे उठाने वाले प्राकृतिक पदार्थो को वियोग के दिनों में देखकर जो दुःख होता है उसकी व्यंजना के लिए कवियों मे उपालंभ की चाल बहुत दिनों से चली आती है। चंद्रोपालंभ-संबंधिनी बड़ी सुंदर कविताएँ संस्कृत साहित्य मे है। देखिए, सागर-मंथन के समय चंद्रमा को निकालने वालों तक इस उपालंभ मे किस प्रकार गोपियाँ अपनी दृष्टि दौड़ाती है—

या बिनु होत कहा अब सूनो ?
लै किन प्रगट कियो प्राची दिसि, बिरहिनि को दुख दूनो ?
सब निरदय सुर, असुर, शैल, सखि ! सायर सर्प समेत ॥
धन्य कहौ वर्षा ऋतु, तमचुर औ कमलन को हेत।
जुग जुग जीवै जरा बापुरी मिलै राहु अरु केत ॥

इसी पद्धति के अनुसार वे वियोगिनी गोपियाँ अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह-बियोग श्यामसुंदर के ठाढे क्यों न जरे ?
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ?
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक-धिक सबन करे ॥
कौन काज ठाढे रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें साँपिन सी लग रही है। साँपिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि वह डसकर उलट जाती है, जिससे सफ़ेद भाग ऊपर हो जाता है। बरसात की अँधेरी रात में कभी-कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है वह ऐसी ही लगती है—

पिया बिनु साँपिनी कारी राति।
कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति ॥

इस पद पर न जाने कितने लोग लट्टू हैं।

सूरदासजी का विहार-स्थल जिस प्रकार घर की चारदीवारी के भीतर तक ही न रहकर यमुना के हरे-भरे कछारों, करील के कुंजों और वनस्थलियों तक फैला है उसी प्रकार उनका विरह-वर्णन भी 'बैरिन भईं रतियाँ' और "साँपिन भइ सेजिया" तक ही न रहकर प्रकृति के खुले क्षेत्र के बीच दूर-दूर तक पहुँचता है। मनुष्य के आदिम वन्य-जीवन के परंपरागत मधुर संस्कार को उद्दीप्त करने वाले इन शब्दों में कितना माधुर्य है—

"एक बन ढूँढि सकल बन ढूँढौ, कतहुँ न स्याम लहौं" । ऋतुओं का आना-जाना उसी प्रकार लगा है । प्रकृति पर उनका रंग वैसा ही चढ़ता-उतरता दिखाई पड़ता है । भिन्न-भिन्न ऋतुओं की वस्तुएँ देख जैसे गोपियों के हृदय मे मिलने की उत्कंठा उत्पन्न होती है वैसे ही कृष्ण के हृदय में क्यों नहीं उत्पन्न होती ? जान पड़ता है कि ये सब उधर जाती ही नही, जिधर कृष्ण बसते हैं । सब वृन्दावन मे ही आ आकर अपना अड्डा जमाती हैं—

मानौ, माई ! सबन्ह इतै ही भावत ।
अब वहि देस नंदनंदन को कोउ न समौ जनावत ॥
धरत न बन नव पत्र फूल-फल पिक बसंत नहि गावत ।
मुदित न सर सरोज अलि गुंजत, पवन पराग उडावत ॥
पावस बिबिध बरन बर बादर उठि नहिं अंबर छावत ।
चातक मोर चकोर सोर करैं, दामिनि रूप दुरावत ॥

अपनी अंतर्दशा को ऋतु-सुलभ व्यापारों के बीच बिंब-प्रतिबिंब रूप मे देखना भावमग्न अंतःकरण की एक विशेषता है । इसके वर्णन मे प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद मिट-सा जाता है । ऐसे वर्णन पावस के प्रसंग में सूर ने बहुत अच्छे किये है । "निसि दिन बरसत नैन हमारे" बहुत प्रसिद्ध पद है । विरहोन्माद मे भिन्न-भिन्न प्रकार की उठती हुई भावनाओं से रंजित होकर एक ही वस्तु कभी किसी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी किसी रूप में । उठते हुए बादल कभी तो ऐसे भीषण रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियत चहुँ दिसि तें घनघोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे॥
कारे तन अति चुवत गड मद, बरसत थोरे थोरे॥
रुकत न पवन-महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥

कभी अपने प्रकृत लोक-सुखदायक रूप में ही सामने आते हैं और कृष्ण की अपेक्षा कहीं दयालु और परोपकारी लगते हैं—

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नंदनंदन! गरजि गगन घन छाए॥
कहियत है सुरलोक बसत, सखि! सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानि कै, तेउ तहाँ ते धाए॥
तृण किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए॥

'बदराऊ' के 'ऊ' और 'बरु' में कैसी व्यंजना है! 'बादल तक'—जो जड़ समझे जाते हैं—आश्रितों के दुःख से द्रवीभूत होकर आते हैं!

प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय लगने लगते हैं—

आजु घनश्याम की अनुहारि!
उनै आए साँवरे ते सजनी! देखि, रूप की आरि॥
इंद्र धनुष मनो नवल बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बग-पाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि॥

इसी प्रकार पपीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुःख बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार सुनाता है—

हौं तो मोहन के बिरह जरी, रे ! तू कत जारत ?
रे पापी तू पंखि पपीहा ! 'पिउ पिउ पिउ' अधिराति पुकारत ॥
सब जग सुखी, दुखी तू जल बिनु, तऊ न तन की बिथहि बिचारत ।
सूर स्याम बिनु ब्रज पर बोलत, हठि अगिलोऊ जनम बिगारत ॥

और कभी सम-दुःख-भोगी के रूप में अत्यंत सुहृद् जान पड़ता है और समान प्रेम व्रत-पालन के द्वारा उनका उत्साह बढ़ाता प्रतीत होता है—

बहुत दिन जीवौ, पपिहा प्यारो ।
बासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह-जुर कारो ॥
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाम तिहारो ।
देखौ सकल बिचारि, सखी ! जिय बिछुरन को दुख न्यारो ॥
जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम-बान अनियारो ।
सूरदास प्रभु स्वाति बूँद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो ॥

काव्य-जगत् की रचना करने वाली कल्पना इसी को कहते है। किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अंतर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप को गढ़कर या काट-छाँटकर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते है। यों ही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव मे मग्न हुए—कुछ-कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है या दिमाग़ी कसरत; सच्चे कवि की कल्पना नहीं। वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाये गये हों उनके संबंध मे यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को सँभालने वाले या बढ़ाने वाले होकर

आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिए—कुतूहल उत्पन्न करने के लिए—ज़बरदस्ती पकड़ कर लाये गये हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्त्तक या प्रेषक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय प्रेरित हुए। अंग्रेज़ कवि कालरिज ने, जिसने कवि-कल्पना पर अच्छा विवेचन किया है, अपनी एक कविता में ऐसे रूपावरण को आनंद-स्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है, जिसके प्रभाव से जीवन मे रोचकता रहती है। जब तक वह रूपावरण (कल्पना का) जीवन मे साथ लगा चलता है तब तक दुःख की परिस्थिति मे भी आनंद-स्वप्न नहीं टूटता। पर धीरे-धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक काव्य-मीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझ कर कह दिया है—"कल्पना आनंद है" (Imagination is joy)।

यह तो आरंभ में ही कहा जा चुका है कि सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत-काव्यों की शैली पर है, जिसमें सुर और लय के सौंदर्य या माधुर्य का भी रस-परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे वह संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी ख़ज़ाना है। नाद-सौंदर्य के साधनों में अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं। संस्कृत के गीत-गोविंद में कोमलकांत-पदावली और अनुप्रास की ओर बहुत कुछ ध्यान है। विद्यापति की रचना

में कोमल पदावली का आग्रह तो है, पर अनुप्रास का उतना नहीं। सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति-विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है। इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा नहीं पड़ने पाई है। भावुक सूर ने अपना 'शब्द-शोधन' दूसरी ओर दिखाया है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं-कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्य-भाषा होने से यद्यपि उसमें कहीं-कहीं संस्कृत के पद, कवि के समय से पूर्व के परंपरागत प्रयोग तथा ब्रज से दूर-दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी मात्रा इतनी नहीं है कि भाषा के स्वरूप में कुछ अंतर पड़े या कृत्रिमता आवे। श्लेष और यमक कूट पदों में ही अधिकतर पाये जाते हैं। अर्थालंकारों की पूर्ण प्रचुरता है, विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों की। यद्यपि उपमान अधिकतर साहित्य-प्रसिद्ध और परंपरागत ही हैं, पर स्वकल्पित नये-नये उपमानों की भी कमी नहीं है। कहीं-कहीं तो जो प्रसिद्ध उपमान भी लिये गये हैं, वे प्रसंग के बीच बड़ी ही अनूठी उद्भावना के साथ बैठाये गये हैं। स्फटिक के आँगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं और उनके हाथ-पैर का प्रतिबिंब पड़ता चलता है। इस पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

> फटिक-भूमि पर कर-पग-छाया यह शोभा अति राजति।
> करि करि प्रति पद प्रति मनो बसुधा कमल बैठकी साजति॥

रूप या अंगों की शोभा के वर्णन में उपमा उत्प्रेक्षा की

भरमार बराबर मिलेगी। इनमें बहुत-सी तो पुरानी और बँधी हुई हैं और कुछ नवीन भी हैं। उपमा उत्प्रेक्षा की सब से अधिकता 'हरिजू की बाल-छबि' के वर्णन में पाई जाती है; यों तो जहाँ-जहाँ रूप-वर्णन है, सर्वत्र ये अलंकार भरे पड़े हैं। उपमान सब तरह के हैं पृथ्वी पर के भी और पृथ्वी के बाहर के भी—सामान्य प्राकृतिक व्यापार भी और पौराणिक प्रसंग भी। पिछले प्रकार के उपमानों के उदाहरण इस प्रकार के हैं—

(क) नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकत माल रुराई।
　　सनि, गुरु, असुर, देवगुरु मिलि मनो भौम सहित समुदाई।
(ख) हरि कर राजत माखन रोटी।
　　मनौ बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसमन की कोटी॥

अंग-शोभा और वेश-भूषा आदि के वर्णन में सूर को उपमा देने की झक-सी चढ़ जाती है और वे उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा कहते चले जाते हैं। इस झक में कभी-कभी परिमिति या मर्यादा का विचार (Sense of Proportion) नहीं रह जाता; जैसे, ऊपर के उदाहरण (ख) में कहाँ मक्खन लगी हुई छोटी-सी रोटी और कहाँ गोल पृथ्वी! हाँ, जहाँ ईश्वरत्व या देवत्व की भावना से किसी छोटे व्यापार द्वारा अत्यंत बृहद् व्यापार की ओर संकेत-मात्र किया है वहाँ ऐसी बात नहीं खटकती; जैसे इस पद में—

मथत दधि मथनी टेकि रह्यो।
आरि करत मटकी गहि मोहन बासुकि संभु डर्‌यो॥

मंदर डरत सिंधु पुनि काँपत फिरि जनि मथन करै।
प्रलय होय जनि गहे मथानी, प्रभु मर्य्यादा टरै॥

पर उक्त दोनों उदाहरणों के संबंध में तो इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि ऐसे उपमान बहुत काव्योपयोगी नहीं जँचते। काव्य में ऐसे ही उपमान अच्छी सहायता पहुँचाते है जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते है और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का संस्कार जनसाधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है। न शनि का कोयले सा कालापन ही किसी ने आँखों देखा है, न वराह भगवान् का दाँत की नोक पर पृथ्वी उठाना। यह बात दूसरी है कि केशव जैसे कुछ प्रसिद्ध कवियों ने भी "भानु मनो शनि अंक लिए" ऐसी उत्प्रेक्षा की ओर रुचि दिखाई है।

हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत् से बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिए खुलते जाते है उनके भीतर के नाना रमणीय और अद्भुत रूपों और व्यापारों का—जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष नही है—काव्य मे उपयोग करके उसके क्षेत्र का विस्तार न किया जाय। उनका प्रयोग किया जाय, कवि की प्रतिभा द्वारा वे गोचर रूप मे सामने लाये जायँ, पर दूसरे प्रकार की रचनाओं में लाये जायँ, केवल अंग आभूषण आदि की उपमा के लिए नहीं। ज्योतिर्विज्ञान द्वारा खगोल के बीच न जाने कितने चक्कर खाते, बनते-बिगड़ते रंग-बिरंग के पिंडों, अपार ज्योतिः-समूहों आदि का पता लगा है जिनके सामने पृथ्वी किसी गिनती मे नहीं।

कोई विश्व-व्यापिनी ज्ञानदृष्टि वाला कवि यदि विश्व की कोई गंभीर समस्या लेकर उसे काव्यरूप मे रखना चाहता है तो वह इन सबको हस्तामलक बनाकर सामने ला सकता है।

सूरदासजी मे जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता (wit) भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े-सीधे ढंग उन्हे मालूम थे। गोपियों के वचन मे कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है ? वचन-रचना की उस वक्रता के संबंध मे आगे विचार किया जायगा। यहाॅ पर हम वैदग्ध्य के उस उपयोग का उल्लेख करना चाहते है जो आलंकारिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिए किया गया है। साहित्य-प्रसिद्ध उपमानों को लेकर सूर ने बड़ी-बड़ी क्रीड़ाएँ की हैं। कहीं उनको लेकर रूपकातिशयोक्ति द्वारा "अद्भुत एक अनूपम बाग" लगाया है; कहीं, जब जैसा जी चाहा है, उन्हे संगत सिद्ध करके दिखा दिया है, कहीं असंगत। गोपियाॅ वियोग में कुढ़कर एक स्थान पर कृष्ण के अंगों के उपमानों को लेकर उपमा को इस प्रकार न्याय-संगत ठहराती है—

कहीं-कहीं सूर ने कल्पना को अधिक बढ़ाकर, या यों कहिए कि ऊहा का सहारा लेकर—जैसा पीछे बिहारी ने बहुत किया—वर्णन कुछ अस्वाभाविक कर दिया है। चंद्र की दाहकता से चिढ़कर एक गोपी राधा से कहती है—

कर धनु लै किन चंदहि मारि ?

तू हरुवाय जाय मंदिर चढ़ि ससि सम्मुख दर्पन बिस्तारि।
याही भाँति बुलाय, मुकुर महि अति बल खंड खंड करि डारि॥

गोपियों का विरहोन्माद कितना ही बढ़ा हो, पर उनकी बुद्धि बिल्कुल बच्चों की सी दिखाना स्वाभाविक नहीं जॅचता। कविता मे दूर की सूझ या चमत्कार ही सब कुछ नहीं है।

पावस के घन-गर्जन आदि वियोगिनी को संतापदायक होते हैं, यह तो एक बॅधी चली आती हुई बात है। सूर ने एक प्रसग कल्पित करके इस बात को ऐसी युक्ति से रख दिया है कि इसमें एक अनूठापन आ गया है। वे कहते है कि पावस आने पर सखियॉ राधा को मालूम ही नही होने देती कि पावस आया है। वे और बाते बताकर उन्हें बहकाती रहती है—

बात बूझत यो बहरावति।
सुनहु स्याम ! वै सखी सयानी पावस ऋतु राधहि न सुनावति।
घन गरजत तौ कहत कुसलमति गूँजत गुहा सिंह समुझावति॥
नहिं दामिनि, द्रुम-दवा शैल चढि, फिरि बयारि उलटी झर लावति।
नाहिन मोर बकत पिक दादुर, ग्वाल-मंडली खगन खेलावति॥

सूर को वचना-रचना की चतुराई और शब्दों की क्रीड़ा का भी पूरा शौक था। बीच-बीच मे आये हुए कूट पद इस बात के प्रमाण है, जिनमे या तो अनेकार्थवाची शब्दों को लेकर या किसी एक वस्तु को सूचित करने के लिए अनेक शब्दों की लंबी लड़ी जोड़कर खेलवाड़ किया गया है। सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी। उन्हे कुछ खेल-तमाशे का भी शौक था। लीला-पुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होनी ही चाहिए। तुलसी के गंभीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता। अपनी इसी शब्द-कौशल की प्रवृत्ति के कारण

सूर ने व्यवहार े कुछ पारिभाषिक शब्दों को लेकर भी एक आध जगह उक्तियाँ बाँधी हैं जैसे—

साँचो सो लिखवार कहावै।

काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै।

मन्मथ करै कैद अपनी मे, जान जहतिया लावै॥

काव्य में इस प्रकार की उक्तियाँ ठीक नहीं होतीं। आचार्यों ने 'अप्रतीतत्व' दोष के अंतर्गत इस बात का संकेत किया है। सूर भी एक ही आध जगह ऐसी उक्तियाँ लाये हैं, पर वे 'प्रेम-फौजदारी' ऐसी पुस्तकों के लिए नमूने का काम दे गई हैं।

———

गोस्वामी तुलसीदास

तुलसीदास की जीवनी का अनुसंधान—

हिंदी भाषा की संपूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखाने वाले और हिंदी-साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठाने वाले भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा मे थे। अपनी अद्भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वकालिक हो गये है। आज तीन सौ वर्षो में उनकी कीर्तिश्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरंतर बढ़ती ही जाती है। उनकी लौकिक जीवन-गाथा का उल्लेख यहाँ संक्षेप में आवश्यक है। उनका जीवन-चरित लिखने वाले महात्मा रघुवरदास के "तुलसी-चरित" से उनकी जीवनी का पता चलता है परंतु उनके समकालीन शिष्य बाबा वेणीमाधवदास का "गोसाईचरित" अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इनके अतिरिक्त अयोध्या के कुछ रामायण-भक्त तथा मिरज़ापुर के पंडित रामगुलाम द्विवेदी आदि जनश्रुतियों के आधार पर गोस्वामीजी की जीवन-गाथा के निर्माण मे सहायक हुए है। शिवसिंह सेंगर और डाक्टर ग्रियर्सन के प्रारंभिक अनुसंधानों से उनकी जीवनी पर जो प्रकाश पड़ता है, वह भी ध्यान देने योग्य है। इस बाह्य साक्ष्य को लेकर जब हम गोस्वामीजी के ग्रंथों का अन्वेषण करते है

और उनमें उनकी जीवनी के संबंध में आये हुए संकेतों से उस बाह्य साक्ष्य को मिलाकर देखते हैं तब उनके जीवन की अनेक घटनाओं का निश्चय हो जाता है और इस प्रकार उनकी बहुत कुछ प्रामाणिक जीवनी तैयार हो जाती है। परंतु इस जीवनी से पूरा-पूरा संतोष नही होता, क्योंकि वह केवल उनके जीवन की असंबद्ध घटनाओं का संग्रह-मात्र होती है, उससे उनके मानसिक और कला-संबंधी क्रम-विकास का पता नहीं चलता। उनके ग्रंथों की रचना का क्रम क्या है, रचना की परिस्थितियाँ कैसी थीं आदि इन आवश्यक बातों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, जिनकी गोस्वामी जी जैसे महाकवि के विषय मे स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। गोस्वामी जी की जीवनी और उनके ग्रंथों के रचना-क्रम के संबंध मे जो कुछ वक्तव्य प्रकाशित हुए है वे अब तक प्रामाणिकता की कोटि तक नहीं पहुँचे। अभी उनके ग्रथों के अधिकाधिक अनुशीलन की आवश्यकता है। उनके जीवन-चरित के विषय मे प्रमाणाभाव से अनिश्च-यात्मकता तो थी ही, इधर कुछ दिनों से और भी अधिक संदेहों की सृष्टि की जा रही है। सभी अपनी-अपनी नई उद्भावनाएँ लेकर उपस्थित होना चाहते हैं। आवश्यकता नवीन उद्भावनाओं की उतनी नहीं है जितनी प्रस्तुत आधार के अधिक गंभीर अनुशीलन की। तुलसीदासजी किसी विशेष वर्ग या स्थान के व्यक्ति अब नहीं रहे। वे तो समान रूप से हम सब के हो गये हैं। अतः उनकी जीवनी का अनुसंधान करते हुए जातीय और प्रादेशिक संकीर्णता को कुछ भी स्थान न देना चाहिए।

जो उपलब्ध प्रमाण है उनकी पुष्टि और नवीन प्रमाणों की खोज तथा निष्पक्ष दृष्टि से उन सबका समन्वय ही हमारे इस जातीय महाकवि के ऐहिक चरित और जीवन-घटनाओं को प्रत्यक्ष कर सकता है। संकीर्ण जातीयता और सांप्रदायिक या व्यक्तिगत मनोवृत्ति की खीचतान से कुछ भी लाभ की संभावना नही है।

हम भी अपने विचारो मे संशोधन के लिए सदैव तैयार हैं। अब तक जो कुछ निर्णय हम इस संबंध मे कर सके है उसके अनुसार गोस्वामी जी की संक्षिप्त जीवन-गाथा इस प्रकार स्वीकृत की जा सकती है। गोसाईं-चरित तथा तुलसीचरित दोनों के अनुसार गोस्वामी जी का जन्म-संवत् १५५४ और स्वर्गवास-संवत् १६८० ठहरता है, यद्यपि गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् निस्सदेह १६८० था पर उनके जन्मकाल के संबंध में डाक्टर ग्रियर्सन ने शंका की है और जनश्रुतियों के आधार पर उसे १५८९ माना है। तुलसीदास युक्तप्रांत के बाँदा ज़िले मे राजापुर गाँव के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौजा के दूबे और इनकी माता हुलसी थी, जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे मे किया है। लड़कपन में ही इनके माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है जिससे इनके अभुक्त मूल मे जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा वेणीमाधवदास ने इस घटना का पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था मे

आश्रयहीन इधर-उधर घूमने-फिरने और उसी समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामोजो की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु-बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के प्रारंभ में किया है। संभवतः उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेषसनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानंद के आश्रम में रहते थे। स्मार्त्त-वैष्णवों से शिक्षा-दीक्षा पाकर गोस्वामीजी भी उसी मत के अवलंबी बने। स्मार्त्त वैष्णव-स्मृति-प्रतिपादित धार्मिक रीतियों को मानते है, पंच देवों की उपासना उनके यहाँ प्रचलित है यद्यपि वे इष्टदेव को प्रधानता अवश्य देते हैं। गोस्वामीजी का अध्ययनकाल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर वे युवावस्था में घर लौटे; क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

गोस्वामीजी के विवाह के संबंध में कुछ शंकाएँ की जाती हैं। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाति-पाँति ना चहत हौं" पद्यांश माना जाता है, परंतु उनके विवाह और विवाहित जीवन के संबंध में जो किवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का पत्नी-प्रेम प्रसिद्ध है और पत्नी ही के कारण इनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसीदास का

प्रेम-विह्वल होकर घोर व्रर्षा में अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़कर चल देना भक्तमाल की टीका और वेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित है। यही नहीं, वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामीजी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने देने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है—

खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥

यह सब होते हुए भी कुछ आलोचकों की सम्मति में तुलसीदासजी के विवाह की बात भ्रांत जान पड़ती है। उनके ग्रंथों मे स्त्रियों के संबंध मे जो विरोधात्मक उद्गार पाये जाते हैं, उनका आधार ग्रहण कर यह कहा जाता है कि गोस्वामीजी जन्म भर वैरागी रहे, स्त्री से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्गुणों से परिचित नहीं हो सके। वही उनके विरोधात्मक उद्गारो का कारण है। परंतु यह सम्मति विशेष तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ती। गोस्वामी जी ने स्त्रियों की प्रशंसा भी की है और निंदा भी। विवाह न करने से ही स्त्रियों के संबंध मे किसी के कटु अनुभव होते हैं, यह बात नही है। स्त्रियों का कामिनी के रूप मे बहिष्कार केवल तुलसीदासजी ने ही नही, अन्य अनेक संप्रदायाचार्यों और कवियों ने भी किया था। भक्ति-काल की यह एक सामान्य विशेषता-सी थी। यह तुलसीदासजी की कोई अपनी बात

न थी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विवाह के संबंध मे बाह्य और आभ्यंतर साक्ष्य मिलते हैं और जनश्रुतियाँ उसका अनुमोदन करती है।

स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गये और घर छोड़ कर देश के अनेक भूभागों और तीर्थो मे घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था। उत्तर में मानसरोवर और दक्षिण मे सेतुबंधरामेश्वर तक इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि मे इनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि इनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवासस्थान थे जहाँ ये वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा,वृंदावन आदि तीर्थों की भी इन्होंने यात्रा की थी और यहीं कहीं इनकी "कृष्ण-गीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण मे गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिये थे, और बड़े-बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते है कि एक बार जब ये चित्रकूट मे थे, तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आये थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

अंत मे ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ मे अपना प्रसिद्ध ग्रंथ "रामचरितमानस" लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षो मे समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी।

स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा-कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है।

रामचरितमानस लिख चुकने के पश्चात् गोस्वामीजी का आत्म-साधना की ओर संलग्न होना स्वाभाविक ही था। रामचरितमानस के अंत में उन्होंने "पायौ परम विश्राम" की बात कही है। इसी विश्राम की निरंतर साधना करना उनके जीवन का लक्ष्य हुआ। जिन राम की कृपा से उन्हें यह लाभ हुआ था उन्हीं के गुणों का गान करते हुए उनमें अपनी सत्ता खो देना ही गोस्वामीजी की रामभक्ति के अनुकूल था और इसे उन्होंने अपने दीर्घ जीवन में सिद्ध भी किया। उनकी विनय-पत्रिका इसी लक्ष्य की पूर्ति है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर ज़ोर देकर गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे, तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामीजी ने लौकिक पद्धति का अनुसरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टरपन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करने वालों में गोस्वामी जी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका

की रचना गोस्वामीजी ने काशी के गोपाल-मंदिर में की थी।

गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में, संवत् १६८० में, हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदासजी भी उससे आक्रांत हुए थे। उन्हे विपूचिका हो गई थी, पर कहा जाता है कि महावीरजी की वंदना करने से वह दूर हो गई। परंतु वे इसके उपरांत अधिक दिन जीवित नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जर्जर कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक कुछ मत-विभेद था। अनुप्रास-पूरित इस दोहे के अनुसार उनकी निर्वाण-तिथि श्रावण शुक्लपक्ष की सप्तमी मानी जाती रही है—

संवत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परंतु वेणीमाधवदास के गोसाईंचरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० की श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक भी ठहरी, क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा, और दूसरे गोस्वामीजी के घनिष्ठ मित्र टोडर के वंश मे तुलसीदासजी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है और वह सीधा श्रावण के कृष्ण पक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है, "सावन सुक्ला सप्तमी" को नहीं।

विगत कुछ वर्षों से उत्तरी भारत में प्रायः सर्वत्र तुलसी-

जयंती मनाई जाने लगी है। जयंती की तिथि अब तक श्रावण शुक्ला सप्तमी ही मानी जा रही है। जिन्हें यह ज्ञात हो गया है कि यह गोस्वामीजी की इहलीला-संवरण की तिथि नही है वे इसे उनकी जन्म-तिथि के रूप मे जयंती मनाते है। महापुरुषों की जन्म-तिथि पर उत्सव मनाना भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि से विधेय नहीं है। जन्म-तिथि तो राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की ही मनाई जाती है। अन्य महात्माओं की तो शरीर-त्याग की तिथि ही मनाने की प्रथा है। राम, कृष्ण आदि का अवतार दिव्य था अतः उनकी अवतार-तिथि स्मरणीय है किंतु तुलसीदासजी की तो निर्वाण-तिथि ही मान्य है। उनके जन्मदिवस का उत्सव तो लौकिक ही कहा जायगा, क्योंकि जन्म के समय वे प्राकृत पुरुष ही थे। पीछे अपनी साधना से उन्हे मोक्ष प्राप्त हुआ अतः मोक्ष-तिथि का उत्सव मनाना ही यहाँ की आध्यात्मिक परंपरा के अनुकूल होगा, क्योंकि भारतीय अध्यात्मशास्त्र प्रकृति को माया या मिथ्या मानता और ब्रह्म को ही सत्य ठहराता है। महात्मा तुलसीदासजी ने श्रावण कृष्णा तृतीया को अपनी सांसारिक लीला संवरण की और परम तत्त्व से एकाकार हो गये। अतः उसी तिथि को उनकी जयंती मनाने की परिपाटी प्रचलित होनी चाहिए।

गोस्वामीजी का भारतीय जनसमाज पर प्रभाव और उसके कारण—

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो है ही, साथ ही उसका

सब से बड़ा कारण है—उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नानापुराणनिगमागमसम्मत' रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हे अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार अत्यधिक था, परंतु उन्होंने रामचरितमानस में प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। उनके रामचरितमानस मे मध्यकालीन धर्मग्रथों विशेषतः अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण का प्रभाव कम नही है। भुशुंडि रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजो पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमे मध्यकालीन धर्मग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं मे उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर-घर है। गोस्वामीजी का स्थायित्व और गौरव इसी पर सब से अधिक अवलंबित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एकमात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार सस्कृत साहित्य में

वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखने वाली जनता भी करोड़ों की संख्या मे रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नही है कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्नकोटि के है। गोस्वामीजी की प्रतिभा सब मे समान रूप से लक्षित होती है, किंतु रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र मे अंतर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा-प्रजा, ऊँच नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता, पिता, गुरु, भाई आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए, आदि जीवन के गंभीर प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रंथ मे मिलता है। हिंदुओ के सब देवता, उसकी सब रीति-नीति, वर्णाश्रम-व्यवस्था तुलसीदासजी को स्वीकार है। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य है जितने स्वय राम। उन्होंने स्वयं शिव और राम के मुख से अनेक स्थलों पर ऐसे वचन कहलाये है जिनसे दोनों देवों का प्रिय संबंध सूचित होता है। इस प्रकार भक्त के मन से भेदभाव दूर हो जाता है। यदि शिव के हृदय में राम के लिए अपार प्रेम है और वे राम-गुण गाते-गाते नहीं अघाते—

रामचरित जे सुनत अघाही। रसबिसेष जाना तिन्ह नाही॥

तो राम को भी शिव किसी प्रकार कम प्रिय नहीं है—

'सिव समान प्रिय मोहिं न दूजा।'

शंकर का द्रोही होकर कोई राम को नही भा सकता—

'सिवद्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहिं न भावा॥'

पर इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य देवताओं की स्तुति से उनकी रामभक्ति मे कुछ कमी पड़ती हो, कदापि नहीं—

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं
जानकी जीवन ! जनम-जनम जग ज्यायौ तिहारेहि कौर को हौं।

वे कहते हैं—

बार-बार प्रभुहिं पुकारि कै खिझावतो न,
जो पै मोको होतो कहूँ ठाकुर ठहरु।
आलसी अभागे मोसे तैं कृपालु पाले पोसे,
राजा मेरे राजाराम अवध सहरु॥
ऐसे न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी,
हित कै न माने विधि हरिउ न हरु।
रामनाम ही सो जोग छेम नेम प्रेम पन,
सुधा सो भरोसो एहु दूसरो जहरु॥

तुलसी भक्त होते हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते है पर द्वैत बंधन से छूटकर मुक्त अद्वैत अवस्था प्राप्त करके आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिए वे राम से ही प्रार्थना करते हैं—

जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।
द्वैतरूप तम-कूप परौ नहि अस कछु जतन विचारी॥

संक्षेप में वे व्यापक हिंदू धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतने ऊँचे उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनंद-मग्न होकर हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते है। किसी छोटे भूमार्ग में नहीं, सारे उत्तर भारत मे, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरित-मानस हमारी सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

गोस्वामीजी के रामचरितमानस और विनय-पत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञाप्रश्न आदि बड़े ग्रंथ तथा बरवै रामायण, रामलला नहछू, कृष्ण-गीतावली, वैराग्य-संदीपनी, पार्वतीमंगल और जानकी-मंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध है। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंह-सरोज मे किया गया है परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों मे सम्मिलित हो गई हैं तथा कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रथ गोस्वामी जी-रचित माने जाते है। बाबा वेणीमाधवदास ने गोस्वामीजी की "रामसतसई" का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के अनुकूल नहीं है; क्योंकि उसमे अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली

आदि के रूप में आये है जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय हो सकते हैं, गोस्वामी तुलसीदास-जैसे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी वेणीमाधवदास का साक्ष्य एकदम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नही किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशसा मे दो-चार दोहे कहे है, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देवराम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का राम-कथा के प्रसंग मे नाम लिया है। "कीन्हे प्राकृत जन गुन-गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामीजी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नही की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग रामगुण-कीर्त्तन मे ही किया है, पर रामचरित के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श प्रस्फुटित हुए है वे मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकर है। दोहावली मे उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम मे दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो खंडन साखी-शब्दी दोहाकारों की निंदा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुंदर पुष्टि शिष्य द्वारा गुरु की अवहेलना को दंडित करके की है, रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी की मनुष्य-समाज के प्रति हितकामना स्पष्टत. झलकती देखी

जाती है। उनके अमरकाव्य में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े है।

यह सब होते हुए भी तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वांत सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमे आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नही होता। कला का जो उत्कर्प हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओ मे होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेपता उन्हे हिंदी-कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करने वाले कवियों से सहज मे ही ऊपर आ जाते है और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेने वाले नीतिवादी भो उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से तुलसी की प्रांजलता, माधुर्य और ओज अनुपम तथा मानव-जीवन का सर्वांग-निरूपण अप्रतिम हुआ है। मर्यादा और संयम की साधना मे वे संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि है। इसके साथ ही जब हम भापा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उसके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते है तब गोस्वामीजी की यथार्थ महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमे व्यजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नही, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण

की कथा उन्हे महर्षि वाल्मीकि से बनी-बनाई मिल गई थी, परंतु उसमें भी गोस्वामीजी ने यथोचित परिवर्तन किये हैं। सीता-स्वयंवर के पूर्व फुलवारी का मनोरम वर्णन तुलसीदासजी की अपनी उद्भावना है। धनुषभंग के पश्चात् परशुरामजी का आगमन उन्होंने अपनी प्रबंध-पटुता के प्रतीक-स्वरूप रखा है। कितनी ही मर्मस्पर्शिनी घटनाएँ गोस्वामीजी ने अपनी ओर से सन्निहित की हैं, जैसे सीताजी का अशोकवन मे विरह-पीड़ित अवस्था में अशोक से आग माँगना और तत्क्षण हनुमान् जी का मुद्रिका गिराना। हनुमान्, विभीषण और सुग्रीव आदि रामभक्तों का चरित्र तुलसीदासजी ने विशेष सहानुभूति के साथ अंकित किया है। गोस्वामीजी के भरत तो गोस्वामीजी के ही हैं—भक्ति की मूर्त्ति। अपने युग की छाप भी रामचरितमानस मे मिलती है जिससे वह युग-प्रवर्तक ग्रंथ बन सका है। कलियुग के वर्णन मे उन्होंने सामयिक स्थिति का व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया है। ये सब तुलसी की अपनी मौलिकताएँ है जिनके कारण उनका मानस अन्य प्रांतीय भाषाओं मे लिखे हुए रामकथा के ग्रंथों की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण और काव्यगुणोपेत बन सका। पूरे ग्रंथ मे उपमाओं और रूपकादि अलंकारों की नैसर्गिकता चित्त को विमुग्ध करती है। वे अलंकार और वह समस्त वर्णन रूढ़िबद्ध या अनुकरणशील कवि मे आ ही नही सकते। गोस्वामीजी में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि थी, इसका परिचय स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। वे कोरे भक्त ही नहीं थे; मानव-चरित्र, उसकी सूक्ष्मताओं और ऋजुकुटिल गतियों के पारखी

भी थे, यह रामचरितमानस में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मंथरा के प्रसंग मे गोस्वामीजी का यह चमत्कार स्पष्ट लक्षित है। कैकेयी की आत्मग्लानि भी उन्होने मौलिक रूप से प्रकट कराई है। ऐसे ही अन्य अनेक स्थल है। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है; परंतु गोस्वामीजी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने मे वे अपनी समता नहीं रखते। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस मे उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह-सा बहा है, वह तो वाल्मीकि-रामायण से भी अधिक गंभीर और पूत है।

जायसी ने जिस प्रकार दोहा-चौपाई-छदों मे अवधी भाषा का आश्रय लेकर अपनी पद्मावत लिखी है, कुछ वर्षों के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी उसी अवधी भाषा में उन्हीं दोहा-चौपाई-छदो मे अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी था, उसमें साहित्यिकता की छाप नही थी। परंतु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे, अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों मे सस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे उनके रामचरितमानस मे प्रसंगानुसार

उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यदि उसमे एक दासी के मुख से—

> फोरइ जोगु कपार हमारा। भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा॥
> कहहि झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं करुइ मैं माई॥

जैसी ठेठ भाषा का प्रयोग कराया गया है तो ज्ञान-सिद्धांत के कथन मे निम्नलिखित प्रकार की भाषा भी है—

> सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥
> आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा॥

यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि मे ब्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह ब्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि सूरदास आदि भक्त-कवियों की विस्तृत रचनाएँ इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा मे भी अपनी संस्कृत पदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपर्युक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर जायसी और सूर ने क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा मे ही काव्यरचना की थी वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार हुआ और उन दोनों मे संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो उनकी अपनी है। जहाँ उन्होंने इस प्रकार की सरल और मधुर ब्रजभाषा लिखी है—

छोटी मोटी मीसी रोटी चिक्नी चुपरिकै तू
दे री मैया 'ले कन्हैया' 'सो कब' 'अबहि तात'।
सिगरियै हौं ही खैहौं बलदाऊ को न दैहौं
सो क्यों भट्ट तेरो कहा कहि इत उत जात॥
बाल बोलि डहकि बिरावत चरित लखि
गोपीगन मुदित महरि पुलकित गात॥
नूपुर की धुनि किंकिनी के कलरव सुनि
कूदि-कूदि किलकि-किलकि ठाढे-ठाढे खात॥

तो इस प्रकार की संस्कृत-प्रधान भापा का भी प्रचुर प्रयोग किया है—

अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत इति बासना धूप दीजै।
दीप निज बोध गत क्रोध मद मोह तम प्रौढ अभिमान चितवृत्ति छीजै॥

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भापा-भेद है, उसी प्रकार छंद-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रखा है, परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच-बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद-परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। रामचरित के लंकाकांड में जो युद्ध-वर्णन है, उसमें चंद आदि वीर कवियों के से छंद भी लाये गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छदों मे कथा कही गई है जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रजभापा के सगुणोपासक संत महात्माओं के

गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों मे संगीतशास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लीरिक कविता आरंभ मे वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिंदी के गीत-काव्यों मे भी संगीत के राग-रागनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि मे तुलसीदासजी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिये है अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भाव-व्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छदों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजना-शक्ति उनकी रचनाओं मे दीख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी मे पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

उपसंहार—

तुलसीदासजी के महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के संरक्षण तथा उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप हम यहाँ कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते है, हम यह कह सकते है कि गोस्वामीजी का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में

ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों मे दर्शनीय हुई है। छंदों और अलंकारो का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं दीख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई है। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन मे हिंदी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामी-जी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्मग्रंथ का काम दे रहे है, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू जाति, हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि-कवि है। उनकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी के हृदयपटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी, इसमे कुछ भी संदेह नहीं। भारतीय समाज की संस्कृति और प्राचीन ज्ञान की रक्षा के लिए गोस्वामीजी का कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

———

मीराबाई

जोधपुर राज्य के अन्तर्गत मेड़ता नामक जागीर के चौकड़ी गॉव मे मीराबाई का जन्म हुआ था। इनके जन्म-संवत् के बारे मे ऐकमत्य नहीं है, परन्तु सामान्यतः इनका जन्मकाल संवत् १५५५ और १५६० के बीच में माना जाता है। इसी तरह इनके परलोक-गमन का संवत् भी एक मत के अनुसार १६०३ कहा जाता है, पर भारतेन्दु ने उसे १६२० और १६३० के बीच में बताया है।

मीरा का विवाह उदयपुर के राणा सांगा के लड़के भोजराज के साथ संवत् १५७३ में हुआ। विवाह होने के बाद दस बरस के भीतर ही ये विधवा हो गई। पुरातन जन्मों के संस्कार से इन्हे बचपन मे ही कृष्णभक्ति का चसका लग गया था। कहा जाता है कि जब ये बिल्कुल छोटी ही थीं तब एक साधु इनके पिता के घर आया था जिसके पास कृष्ण की एक प्रतिमा थी। मीराबाई उस प्रतिमा के लिए मचल गई और उसे लेकर ही मानीं। उस प्रतिमा को ये विवाह के बाद अपने साथ ससुराल भी लेती आई।

कृष्णभक्ति की तल्लीनता मे उन्होंने अपने विवाहित जीवन को लोकानुमत रूप मे अंगीकार नहीं किया था। अतः वैधव्य प्राप्त होने पर भी उनके ऊपर इस घटना का कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा। वे साधु-सन्तों तथा महात्माओं की संगति में अपना

समय बिताने लगीं। इनके देवर विक्रमादित्य, जो उस समय राणा थे, इनको इस मार्ग से विपथ कराने के लिए तरह-तरह के उपाय करने लगे। उन्होंने कई स्त्रियाँ उन्हें समझाने के लिए भेजीं, पर मीरा के पास पहुँच कर वे भी उन्ही के रंग मे रंग गईं। तब राणा ने अपने कुल की बदनामी के डर से मीराबाई के प्राण ही लेने का इरादा कर लिया। उन्होंने इनके पास विष का पात्र भेजा, पिटारी में बंद करके साँप भेजा। परन्तु विषपान से मीरा का कुछ भी अहित न हुआ और पिटारी मे साँप के स्थान में सालिग्राम निकले। मीरा ने इन घटनाओं का स्वयं उल्लेख किया है—

> राजा रूठे नगरी राखै, हरि रूठ्याँ कहँ जाणा॥
> राणै भेज्या जहर पियाला, इमरत करि पी जाणा॥
> डबिया में भेजा जु भुजंगम, सालिगराम करि जाणा॥
> मीरा तो अब प्रेम दिवांणी साँवलिया वर पाणा॥

जब इनको बहुत अधिक सताया गया तो ये मेवाड़ छोड़कर चली गई। मालूम होता है समाज ने भी इनके साथ अधिक उदारता का बर्ताव नहीं किया होगा, क्योंकि अपने पदों में इन्होंने स्थान-स्थान पर लाज, कुलकानि आदि त्याग देने का निर्भीकता-पूर्वक उल्लेख किया है, जिसकी शायद इन्हें ज़रूरत न पड़ती यदि लोगों ने इस तरह की बातें कह-कह कर इन्हे बदनाम करने की प्रवृत्ति न दिखाई होती।

कहा जाता है कि एक बार मीराबाई वृन्दावन के साधु जीव गोसाई के दर्शन करने के लिए पहुँची। जीव गोसाईं स्त्रियों से

नहीं मिलते थे और उन्होंने मीराबाई को मिलने से इनकार कर दिया। इस पर म राबाई ने उत्तर दिया कि मैं तो सिवा कृष्ण के सबको स्त्रीवत् ही समझती थी, पर आज मालूम हुआ कि आप भी एक पुरुष हैं। तब गोसाईं जी बड़े शरमाये और स्वयं ही बाहर आकर उन्होंने मीराबाई का स्वागत किया। मीराबाई के बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि अपने संबंधियों द्वारा बहुत अधिक त्रासित की जाने पर इन्होंने तुलसीदास जी को एक पत्र लिखकर उनसे पूछा था—'हमकू कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई'। तुलसीदास जी ने इसका यह उत्तर दिया था—

जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही।

संत रैदास मीराबाई के गुरु थे। मीरा ने स्वयं इस बात को कहा है। "मीरा ने गोव्यन्द मिल्या जी, गुरु मिल्या रैदास।" कबीर की भाँति मीरा ने भी गुरु की बहुत महिमा बताई है और सत्संग को भी बड़ा महत्त्व दिया है।

मीरा के पदों में यद्यपि कहीं-कहीं ब्रह्मवाद, 'निरगुन सेज' 'अनहद की झनकार' आदि का वर्णन आया है, तथापि वे निर्गुणोपासिका नहीं थीं। वे कृष्ण की मोहिनी मूर्ति पर अनन्य रूप से अनुरक्त थीं और उनको अपने पति के रूप में मानती थीं। कृष्ण के प्रेम से उनकी आत्मा लिप्त थी। वास्तव में उनको उपासिका-मात्र कहना अनुचित होगा। उनकी भावना उपासना के क्षेत्र में बहुत ऊँची उठकर उत्कट प्रणय का रूप बन गई है। निर्गुणोपासना का ज्ञान के साथ जो संबंध रहता है उसकी इनके

निर्गुणसंबंधी पदों मे झलक होते हुए भी इनका प्रेम ज्ञान से व्याप्त नहीं हुआ है, बल्कि प्रेम ही ज्ञान को व्याप्त कर लेता है।

मीरा का 'गिरधर' या 'गोपाल' पूर्ण पुरुष के रूप मे 'अवि-नासी' है और अभेद के कारण, स्थान-स्थान पर, उसे राम भी कह दिया गया है। फिर, अन्यत्र उसके नाम 'नारायण', 'गोबिंद' आदि भी हो जाते हैं। पर जिस किसी रूप मे भी हो मीरा उसकी प्रणयिनी है। समय-समय पर जब प्रणय-लालसा अति तीव्र हो उठती है तो मीरा उसके पूर्णपुरुषत्व को विलीन करती हुई सी उसे अपना 'बालम' 'मोहन' 'पिया' 'सजन' आदि कहने मे संकोच नहीं करती। अंगी-प्रणय की किसी अन्य भावस्थिति मे वह उसे 'साहब' और 'महाराज' भी कह लेती है, और उसको सलाम भी भेजती है, जिसमे दीनता और विनति का प्रश्रय रहता है, यथा—

> छोडी-छोटी कुल की लाज साहिब तेरे कारणो।
> थोडी थोडी लिखूं सलाम बहुत करि जाणज्यो।
> बंदी हूँ खानाजाद मेहर करि मानज्यो ।
> मीरा चरणां की दास..........॥

मीरा अपने प्रणयपात्र के प्रेम की उत्कटता मे हर समय दर्द-दिवानी' रहती थी। इस दर्द-दिवानेपन के एक पक्ष मे वह परम साहसी और निर्भीक है और दुनिया का सब कुछ त्याग कर लोगों को चिल्ला कर सुनाती फिरती है—'मीरा गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहै बिगाडी', बरजी मै काहू की नाहि रहूं', 'म्हारो कोई न रोकनहार', 'कुल की कान छॉडि दई . . .

होनी होय सो होई' आदि । पर दूसरे पक्ष मे वह नितान्त अबला है; उसका संपूर्ण आत्म-भाव आत्म-समर्पण मे बह चुका है, और उसकी कातर दृष्टि टेक के लिए अपने प्रभु की ओर ही लगी रहती है।

बड़े यत्न से बहुमूल्य जल से उसने प्रेम की बेल को सींचा है। "अँसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेल बोई।" इस प्रेम से उत्पन्न हुए दर्द की अवस्था में तो वे विरहोत्कंठिता ही दिखाई देती हैं, परन्तु दूसरी अवस्थाओ मे हम उन्हे कभी तो मिलन-आशा से उत्सुक और उत्फुल्ल नवयौवना नायिका के रूप में भी देखते हैं और कभी कृतमंगल संयुक्ता के रूप मे भी। इन तीनों अवस्थाओं के अन्तर्गत उनके संचारियों और अनुभावों के रूप में कहीं उपालंभ दिखाई देता है, कही निहोरे किये जाते है और कही दीनता धर दबाती है और मीरा अपने को पामाल कर लेती है। इन्ही भाव-परिवर्तनों के अनुरूप मीरा का नायक भी मोहन, साँवरिया, साजन, महाराज आदि भिन्न-भिन्न रूपों में उसके सामने प्रकट होता है। सारांश यह कि जिस-जिस बदलने वाली स्थिति में मीरा अपने आप को पाती है उसके अनुसार ही उनकी भाव-परंपरा के परिवर्तन से उसके स्वामी के रूप भी बदलते रहते हैं। प्रभु के इन भिन्न-भिन्न रूपों को स्वतन्त्र मानकर उन्हे मीरा के तत्संबंधी दृष्टिकोण का भेद समझना हमारी भूल होगी। वे मीरा के ऐकरस्य की केवल संचारी अवस्थाएँ-भर है। कैसे-कैसे मीरा का प्रेम भिन्न-भिन्न भावस्थितियों मे संचरण करता हुआ बढ़ता है, इसे हम कतिपय उदाहरणों द्वारा देखेंगे।

सूरदासजी की गोपियों के हृदय में 'तिरछे ह्वै जु अड़े' थे उन्होंने अपने समस्त अंगों की टेढ़ाई से मीरा के नेत्रों को भी उलझा लिया है—

निपट बंकट छबि अटके।
देखत रूप मदनमोहन को पियत पियूखन मटके।
बारिज भवां अलक टेढी मनो अति सुगंधरस अटके॥
टेढी कटि ठेढी करि मुरली ठेढी पाग लर लटके।
मीरा प्रभु के रूप लुभानो गिरिधर नागर नट के॥

ये रूप-लुभानी मीरा अपनी मिलनोत्सुकता में कहती है—

(क) म्हाने चाकर राखोजी, गिरिधारी लला, चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठि दरसन पासूँ।
बिन्द्राबन की कुंजगलिन में तेरी लीला गासूँ।
ऊँचे-ऊंचे महल बनाऊ, बिच-बिच राखूँ बारी।
सांवरिया के दरसन पाऊँ पहिरि कुसुंभी सारी।
मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदे रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दैहै, प्रेमनदी के तीरा॥

मिलन हुआ भी परन्तु विछोह देने के ही लिए—

सोवत ही पलका में मैं तो, पलक लगी पल में पीव आए।
मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ, जाग परी पांव ढूँढ न पाए।
और सखी पिव सोइ गमाए, मैं जु सखी पिव जागि गमाए।

इसके बाद विरह की वेदना आरम्भ हो जाती है—

मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलन कैसे होइ री।
आये मेरे सजना, फिर गए अँगना, मैं अभागण रही सोई री।

फाड़ूँगी चीर, करूँ गल कंथा, रहूंगी वैरागण होइ री।
चुरियां फोरूँ, मांग बखेरूँ, कजरा मै डारूँ धोइ री।
निसि बासर मोहि बिरह सतावै, कल न परत पल मोइ री।
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी, मिलि बिछुरो मत कोइ री।

पिय बिन सूनौ छै जी म्हारो देस।

ऐसा है कोइ पीवकूँ मिलावै तन मन करूँ सब पेस।
तेरे कारण बन-बन डोलूँ कर जोगण को भेस।
अवधि बदीति अजूँ न आए, पंडर होइ गया केस।
मीरा के प्रभु कब हिं मिलोगे तजि दियो नगर नरेस॥

तदुपरान्त मीरा संदेसा भेजती है—

जोगिया ने कहज्यो जी आदेस।
जोगणि होइ जुग ढूँढसूँ रे म्हारा रावलियारी साथ।
सावण आवण कह गया बाला कर गया कौल अनेक।
गिणता गिणता घिस गई रे म्हारा आंगलिया री रेख।
पीव कारण पीली पडी बाला जोबन बाली बेस।
दासी मीरा राम भजि के तन मन कीन्हो पेस॥

इस समय मीरा की वेदना बहुत बढ़ गई है। वे उसके कारण दीवानी हो रही है। उनकी इस वेदना को कौन समझेगा? उसे केवल दो ही व्यक्ति समझ सकते हैं—जिसको वह वेदना हो रही है, या फिर जिसने उस वेदना को उत्पन्न किया है—

हे री मै तो दरद दिवाणी मेरा दरद न जाणै कोइ।
घाइल की गति घाइल जानै, कि जिण लाई होइ॥

इस दर्द का कोई इलाज भी नहीं है। है भी तो केवल एक ही—

दरद की मारी बन-बन डोलूँ वैद मिल्या नहि कोइ।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी जब वैद सांवलिया होइ॥

ईर्ष्या की अवस्था मे मीरा ने उपालंभ भी दिये है पर मीरा के उपालभों मे गान की कमी है, क्योंकि मीरा पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुकी है। अत: उसमे दैन्य, निवेदन, मनावन ही का विशेषत: प्राधान्य है। इसलिए वह कहती है—

अब के जिन टाला दे जावो सिर पर राखूँ विराज।
म्हे तो जनम जनम की दासी, थे म्हाका सिरताज॥

अथवा—

हाँ हो म्हरा नाथ सुनाथ बिलम नहि कीजियै।
मीरा चरणो की दास, दरस अब दीजियै॥

चरणों की दासी के नाते मीरा दया की भिक्षा माँगती है—"अब तो वेगि दया करि साहिब, मै तो तुम्हारी दासडियां" और उन के प्रभु ने जिन-जिन पहले के अधमों पर दया की है उनकी कोटि मे अपने को रखती हुई निवेदन करती है—हमने सुनीछै हरि अधम उधारन ' गज की अरजि गरजि उठि धायो 'रिखपतनी पर किरपा कीन्हो ' मीरा के प्रभु मो बंदी पर एती अबेर भई किस कारण। दैन्य, आत्म-तिरस्कार और प्रार्थना के इस स्वर मे उसके "सैया", "सांवरो" की ध्वनि नहीं रह गई है, प्रत्युत वह अब "अधम-उधारन हरि" हो गया है। पर, यह सब होने पर भी, मीरा का हृदय कहाँ जाएगा ? 'मो बंदी' (या बांदी) के

विशेपाधिकार को वह कैसे भूल जाय ? हाँ, निराश विरही के आत्म-निग्रह के रूप में वह यहाँ तक कहने को तैयार है—

म्हारे नातो नाँव को रे और न नातो कोइ।
मीरा व्याकुल विरहणी रे, दरसण दीजो मोइ॥

मीरा की विरह-वेदना को देख कर कौन न पसीजेगा, किसे दया न आएगी ? निष्ठुरता की भी हद ही होती होगी। मीरा का भाग्य जागा है। प्रभु के आगमन के शुभ लक्षण दिखाई देने लगे हैं—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैल चढि चढि जोऊँ मेरी सजनी कब आवै महाराज।
दादुर मोर पपइया बोलै कोयल मधुरै साज।
उमग्यो इन्द चहूँ दिसि बरसै दामिणी छोडी लाज।
धरती रूप नवा-नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, बेगि मिलो महाराज॥

लो, वह आ भी गया। मीरा की मनचाही हो गई। और, उसका 'प्रभु हरि अविनासी' उसके घर उसका 'साजन' बनकर आया है। मीरा की खुशी का ठिकाना नही—

सहेलियां साजन घर आया हो।
बहोत दिनां की जोवती बिरहणि पिव पाया हो।
रतन करूँ नेवछावरी लै आरति साजूँ हो।
पिया का दिया सनेसडा ताहि बहोत निवाजूँ हो।
पांच सखी इकठी भईं मिलि मगल गावैं हो।
पिय का रली बधावणा आनन्द अंग न मावै हो।

हरि सागर सूँ नेहरो नैणाँ बंध्या सनेह हो।
मीरा सखी के आँगणै दूधा बूठा मेह हो॥

मीरा की मानसिक वृत्ति के अन्वेषण मे कोई-कोई महानुभाव रहस्यवाद को भी उसके किसी-किसी पद मे ढूँढने का यत्न करते हैं। आजकल की आलोचना-प्रवृत्ति में हम लोग कुछ अधिक रहस्यप्रधान अथवा रहस्यप्रवण हो गये हैं और प्राय कवियों तथा कविताओं मे रहस्य के लिए विशेष चौकन्ने रहते है। इसका कारण शायद आजकल के कुछ कवियों की रहस्य-वादात्मक रुचि है जो सब को पसन्द नहीं आती। उसी की विरोधात्मक तुलना के लिए हम प्राचीन कवियों में से सच्चे रहस्यवाद को निकाल कर दिखाते है।

वैसे तो, हम सभी थोड़े-बहुत रहस्यवादी है, और ऊँचे महात्मा तथा भक्त तो, अपनी जीवन-गति तथा भावधारा मे, पूर्ण रूप से रहस्यवादी ही है। इस दृष्टि से मीरा भी पूर्ण रहस्यवादिनी, अथवा कहना चाहिए, रहस्यभाविनी है, क्योंकि, तर्क-दृष्टि से, मीरा के लिए जीवनव्यक्ति तथा परमव्यक्ति के युग्म के अतिरिक्त दूसरा युग्म ही नही है और पति-पत्नी का लौकिक युग्म उस एक युग्म का प्रतीक-मात्र है। परन्तु स्त्री होने के कारण मीरा ने उस एक युग्म की भावना को लौकिक पत्नी के हृदय से ही देखा है, लौकिक युग्म को पारमार्थिक युग्म की छाया मे नहीं। कबीर स्त्री नहीं थे, इसलिए वे 'राम की बहुरिया' बन कर भी बहुरिया के हृदय से राम को ग्रहण न कर सके, वे

केवल बहुरिया के आदर्श को ही पकड़ सके और राम को निर्दिष्ट न बना सके। यहाँ सगुण साधना और निर्गुण साधना का भेद भी आ जाता है। मीरा के राम या गोविंद (अथवा जिस किसी नाम से भी उन्हें पुकारा जाय) पूर्णरूप से निर्दिष्ट हैं और मीरा भी अपने पत्नीत्व में पूर्णरूप से निर्दिष्ट है। मीरा के प्रभु परब्रह्म आदि होते हुए भी उनके प्रेम के लिए व्यक्ति ही हैं इसीलिए उनके दर्द का भी जो रूप है वह इतना स्पष्ट है।

ऐसी हालत में यदि हम मीरा के किसी पद में प्रकृति का हँसना-खेलना देख लें तो उसी एक पद में रहस्यवाद का प्रवृत्ति को क्यों ढूँढें? प्रेमी भावुक के लिए प्रकृति के पदार्थों को देखने तथा उनसे भाव-संग्रह अथवा उनको भाव-प्रदान करने का निषेध तो है नहीं। लौकिक प्रेमी भी क्या अपनी संयोग की अवस्थाओं में प्रकृति को देख कर आनन्दित और खिन्न नहीं होते? वसंतवाटिका में खिले हुए रंग-बिरंगे पुष्प क्या दो संयोगियों को हँसते हुए नहीं दिखाई देते? तब मीरा के 'दादुर मोर पपइया' आदि ने ही क्या अपराध किया है कि उन्हें मीरा के मधुर मिलनोत्सव में सहयोग न देने दिया जाय? मीरा की गहरी प्रेम-भावना में इस प्रकार रहस्यभाव की पुट देना उसके प्रेम की गहराई को बहुत कुछ उथला बनाना है।

मीरा के प्रेम की निर्दिष्टता तथा उसके दर्द का पूर्ण रूप एक बार स्पष्ट हो जाने पर मीरा के इस प्रकार के वर्णन हमारे सामने उसके भाव के उद्दीपनों के रूप में उपस्थित होते हैं जो मीरा के अनुभावों तथा संचारियों को प्रेरित करते हैं। उनकी

ज्ञान आदि से संबंध रखने वाली उक्तियों को भी इसी प्रकार के व्यक्त संचारियों (अनुभावों) के रूप मे ग्रहण करने से ही मीरा का भी वास्तविक रूप हम समझ सकेंगे। सूर को सूर-साहित्य का नायक मानते हुए हम उनकी इस प्रकार की उक्तियों को सूर के संचारी इसलिए नहीं मान सकते कि सूर में वह दर्द—दीवानापन—स्थायी रूप में नही दीखता जो कि मीरा मे है। सूर मे पांडित्य-लालसा तथा अपने पांडित्य का ज्ञान भी खूब था और कृष्ण के प्रति वात्सल्य तथा शृंगार मे रंग कर भी उन्हे बहुत-सी दूसरी बाते कहने का अवकाश था। कबीर मे भी जो विचारों का विरोध दिखाया गया है वह यथार्थ विरोध ही है, किसी स्थायी भाव का संचारी नहीं, क्योंकि कबीर जिज्ञासु-मात्र थे। दर्द का (या किसी भी प्रकार का) अविच्छिन्न स्थायी भाव यदि हमे किसी में दिखाई देता है तो केवल मीरा मे।

मीराबाई कवि नही थी। कवि बनने का उसका उद्देश्य नहीं था। परन्तु जिस स्थिति मे मीरा ने अपने को पहुँचा दिया था उसमे वाणी-मात्र और कविता में कोई भेद नहीं रह जाता। मीरा का हृदय ही कविता का आदि स्वरूप बन गया है। उसमें से जो कुछ भी निकलेगा वह दर्द-दीवानी की कसक के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? उस कसक का केवल भावुकता के साथ अनुभव किया जा सकता है। उसको शास्त्र की छुरी से उधेड़ना कसक के रूप को भ्रष्ट करना और अपनी अहार्दिकता का विज्ञापन करना है। ऊपर जो संचारियों, अनुभावों आदि

का वर्णन आया है वह मीरा की रचना की चीर-फाड़ के लिए नहीं, बल्कि मीरा के हृदय के थोड़ा-बहुत निकट पहुँचने के लिए। इसलिए यह भी कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि मीरा की स्थिति में, जहाँ वाणी और कविता एक हो कर जागती हैं, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, संसार के भिन्न-भिन्न संबंधों, उपासना-पद्धतियों तथा भिन्न-भिन्न तात्त्विक सिद्धान्तों में भी कोई अलग भेद नहीं रहता। वे सब हृदय की एक अविराम प्रेमधारा की ऊँची-नीची लहरों के रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं।

मीरा की भाषा में राजस्थानी और ब्रज का सम्मिश्रण है। कहा जाता है कि गुजराती में भी मीराबाई की कुछ रचना पाई जाती है। उनकी लिखी हुई दो अन्य रचनाएँ 'नरसीजी का मायरा' और 'रामगोविन्द' भी बताई जाती हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी 'कविता-कौमुदी भाग १' में लिखा है—"मीराबाई संस्कृत भी जानती थी। उन्होंने 'गीतगोविन्द' की टीका लिखी है।"

———

रहीम

जीवनवृत्त—

नवाब अब्दुर्रहीन खानखाना उन विशाल-हृदय मुसलमान महापुरुषों में से हैं जिन्होंने धार्मिक संकीर्णता को साहित्य से सर्वथा दूर रखकर हिन्दी भाषा को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। रहीम ने मुसलमान होते हुए भी हिन्दी भाषा को चुना और हिन्दी भाषा की मूल प्रकृति को पहचान कर तदनुरूप ही उसका रूप रखा—यह और भी अधिक आश्चर्य की बात है। रहीम ने यथार्थ में अपनी काव्य-प्रेरणा का मूल हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू सभ्यता को बनाया था। इस दृष्टि से रहीम का हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे उल्लेखनीय स्थान है।

रहीम का जन्म सम्वत् १६१३ में आगरा मे हुआ। कविवर रहीम के पिता का नाम बैरामखॉ खानखाना था। बैरामखॉ अपने शैशव से ही हुमायूॅ के दरबार में रहता था और अपने कुशल व्यवहार से उसने सम्राट् का विश्वास प्राप्त कर लिया था। बैरामखॉ अनेक युद्धों मे हुमायूॅ के साथ गया था और उसने अपने पराक्रम तथा शौर्य की परीक्षा देकर सम्मान प्राप्त किया था। इसी कारण हुमायूॅ ने युवराज अकबर का शिक्षा-भार बैरामखॉ को ही सौंपा। अपने जीवन के अन्तिम समय

मे राज्यभार भी अकबर के वयस्क होने तक के लिए बैरामखाँ को ही सुपुर्द किया जो उसकी शासन-निपुणता तथा नीतिमत्ता का परिचायक है। किसी राजकीय कार्य के प्रसंग मे विरोध आने पर बैरामखाँ और अकबर मे पारस्परिक विरोध हो गया और परिणाम-स्वरूप बैरामखाँ को अकबर ने हज्ज के लिए विवश करके देश से निर्वासित करने का उपाय ढूँढ निकाला। बैरामखाँ स्त्री-पुत्र सहित हज्ज जाते समय मार्ग मे पाटन मे ठहरा। वहाँ एक अफगान ने पुरानी शत्रुता निकालने के लिए छुरे से प्रहार करके बैरामखाँ को मार दिया। उस समय रहीम की अवस्था केवल चार वर्ष की थी। सम्राट् अकबर ने इस समाचार को पाकर रहीम और उसकी माँ को आगरा बुला लिया और वहीं रहीम की शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया। रहीम शैशव से होनहार कुशाग्रबुद्धि बालक था। अत शीघ्र ही उसने अरबी, फारसी के साथ तुर्की, संस्कृत और हिन्दी की भी उच्चशिक्षा प्राप्त की। संस्कृत और हिन्दी शिक्षा प्राप्त करने मे रहीम ने जिस प्रखरता का परिचय दिया वह उनके बुद्धि-वैभव को प्रकट करता है।

अकबर रहीम मे सर्वतोमुखी प्रतिभा के चिह्न देखकर बहुत प्रसन्न था और वह चाहता था कि रहीम का सम्बन्ध राजकीय घराने से बना रहे ताकि वह भविष्य मे राज्य की सेवा के योग्य सामन्त बने। कदाचित् इसी कारण उसने रहीम का विवाह भी उच्च घराने की कन्या से किया। रहीम के वयस्क होने पर अकबर ने उसे कई जागीरे भी प्रदान की थीं।

रहीम का जीवन प्राय अकबर के साथ युद्ध-क्षेत्रों में ही कटा। अनेक स्थानों पर रहीम राजा की ओर से लड़ने गये और वीरता-पूर्वक शत्रुओं को परास्त कर इन्होंने अपनी रण-कुशलता का परिचय दिया। कुछ समय बाद सम्राट् ने रहीम को युवराज सलीम का शिक्षक नियत कर दिया। शिक्षक का कार्य करते समय रहीम ने 'वाकयात बाबरी' नामक पुस्तक का तुर्की भाषा से फारसी भाषा में अनुवाद किया जिसे देखकर अकबर इनकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित हुए और रहीम को जौनपुर का इलाका पुरस्कार-स्वरूप भेंट किया।

रहीम का अधिकांश जीवन युद्ध-क्षेत्रों में लड़ते हुए ही व्यतीत हुआ। युद्धों में विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में आपने सम्मान और धन भी प्रचुर परिमाण में प्राप्त किया। यह सब होते हुए भी इनका जीवन शान्त और सुखमय नहीं रहा। एक तो जीवन के अन्तिम दिनों में इनसे और जहाँगीर में विरोध पैदा हो गया था, दूसरे, इनके जीवनकाल में ही इनके चारों पुत्रों की मृत्यु हो गई थी। इस पारिवारिक दुःख से और राज-नैतिक विरोध से इनका मन विक्षुब्ध रहता था। साथ ही रहीम के स्वभाव में भी कुछ ऐसी कोमलता थी कि आप दीन-दुखियों को देख स्वयं भी द्रवीभूत हुए बिना नहीं रहते थे। फलतः आपके पास सम्पत्ति भी चिरस्थायी बनकर नहीं ठहर पाती थी।

रहीम का स्वभाव विनोदी, मस्त और वैभव-पसन्द था। धनी, मानी और दानी इनके स्वभाव की विशेषताएं हैं। दान

देने में तो रहीम को बहुत ही सात्त्विक सुख मिलता था। शौर्य से भी अधिक प्रशंसा इनकी दानवीरता की थी। गुणी-जनों, कवियों, विद्वानों आदि का स्वागत इनके दरबार में सदा होता था। दान के कारण इन्हे जीवन मे कई बार धनाभाव का भी सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त राजा से विरोध होने पर एक बार इनकी समस्त जागीरें छीन भी ली गई थी और इन्हे निर्धनता के अभिशाप का सामना करना पड़ा था।

किम्वदन्तियां—

रहीम के जीवन के विषय में अनेक किम्वदन्तियां आज भी हिन्दी-साहित्य मे प्रचलित है। संस्कृत मे जिस प्रकार राजा भोज की दानशीलता तथा कवि कालिदास की प्रतिभा की कहानियां प्रसिद्ध है वैसी ही अनेक दन्तकथाएं रहीम के विषय मे भी प्रसिद्ध है। कहते है कि प्रसिद्ध हिन्दी कवि गंग ने एक बार रहीम के पास निम्नलिखित दोहा लिख कर भेजा था—

सीखे कहाँ नवाबजू, ऐसी दैनी दैन।
ज्यों ज्यों कर ऊंचे करो, त्यों-त्यों नीचे नैन॥

रहीम ने उक्त दोहे को पढ़कर बड़े ही शान्त और निर-भिमान भाव से इसका उत्तर लिखकर भेजा—

देनहार कोउ और है, भेजत सो दिन रैन।
लोग भरम हम पर करें, याते नीचे नैन॥

यह भी प्रसिद्ध है कि कवि गंग के एक छप्पय से प्रसन्न होकर रहीम ने उन्हे छत्तीस लाख रुपये दान किये थे।

रहीम और गो० तुलसीदास जी के प्रेमभाव तथा परिचय के सम्बन्ध मे भी एक दोहा प्रसिद्ध है। एक बार एक निर्धन ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के लिए धनार्थ बहुत चिन्तित होकर गोस्वामी जी के पास आया। गोस्वामी जी ने निम्नलिखित पंक्ति लिखकर उस ब्राह्मण को देदी और कहा कि इसे लेकर तुम रहीम खानखाना के पास जाओ—पंक्ति इस प्रकार है—

"सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय।"

रहीम के पास जब यह पंक्ति पहुँची तो वे गोस्वामी जी का आशय समझ गये और उस ब्राह्मण की कन्या के विवाह के लिए पर्याप्त धन दिया और उस पंक्ति की निम्न प्रकार पूर्त्ति भी करके भेजी—

"गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय।"

इस पंक्ति मे जहाँ तुलसीदास की प्रशंसा है वहाॅ साथ ही साथ उनकी माता हुलसी का नाम लिख कर भी कवि ने काव्य चमत्कार पैदा किया है।

रहीम के काव्य-ग्रन्थ—

रहीम-लिखित ग्रन्थों की शोध में जितने ग्रन्थ मिले है उनको असन्दिग्धभाव से रहीम का कहना कठिन है। उनके ग्रन्थों की संख्या ९ कही जाती है। इन ९ ग्रन्थों मे दोहावली, नगरशोभा, बरवै-नायिकाभेद, बरवै, मदनाष्टक, शृंगार-सोरठा, रहीम-काव्य, खेटकौतुकम् और फुटकर पद है। कुछ लोग 'रास-पचाध्यायी' नामक ग्रन्थ को भी रहीम की

रचना कहते हैं किन्तु उस विषय में अभी तक कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला है।

रहीम के ग्रन्थों में दोहावली को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। ऐसा प्रसिद्ध है कि रहीम ने एक सतसई दोहों मे लिखी थी किन्तु ऐसी किसी सतसई का पता अभी तक नहीं चला है। रहीम के नाम से प्रसिद्ध दोहों की संख्या भी निश्चित नहीं की जा सकती। कतिपय दोहे कई कवियों के नाम से प्रसिद्ध है अतः उनके प्रणेता का इस पुस्तक के पढ़ने से पता चलता है। शृंगार रस की दृष्टि से रहीम का 'बरवै-नायिकाभेद' एक उत्कृष्ट स्थान रखता है। बरवै छन्द पर तो जैसे रहीम का पूर्णाधिकार था। इस छन्द में रहीम ने अच्छा कौशल दिखाया है। 'बरवै' नामक रहीम की एक दूसरी पुस्तक और है जो नायिकाभेद से अधिक प्रौढ़ है। 'मदनाष्टक' नामक अष्टक की रचना एक प्रकार का भाषा-विषयक कुतूहल-जनक प्रयास है। इसमे संस्कृत तथा हिन्दी की मिश्रित रचना हुई है। आधा पद संस्कृत का और आधा हिन्दी का है। इनको पढ़ कर रहीम का संस्कृत ज्ञान विदित होता है।

'दृष्टा तत्र विचित्रतां तरुलता मैं था गया बाग में, काचित् तत्र कुरंगशावनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी'। इसमें दोनों भाषा का आधा २ पुट कवि ने प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार की दूसरी रचना 'खेटकौतुकम्' है जिसमें संस्कृत और फारसी का मेल करके पता लगाना कठिन है। अपने दोहों में रहीम ने नीति, व्यवहार तथा अनुभव की सांसारिक बातों का ही अधिकतर

उल्लेख किया है। शृंगार का वर्णन प्रायः उनके दोहों में नहीं है। रहीम ने अपने दोहों में लौकिकता का ऐसा गहरा पुट रखा कि उनके दोहे जन-साधारण से लेकर विद्वान् पंडितों तक एकसमान प्रचलित हुए। रहीम ने दोहा छन्द के प्रचार में भी अच्छा योग दिया। चित्त को दुहने—बरबस अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति अवश्य ही रहीम के दोहों में है, भले ही उनमें पिंगल का पूर्ण पालन और काव्य-सुषमा की चरम प्रतिष्ठा न हो सकी हो।

रहीम का 'नगरशोभा' नामक ग्रन्थ दोहा छन्द में ही है। ग्रन्थ का मुख्य विषय विभिन्न जातियों की स्त्रियों का सौन्दर्य वर्णन है। शृंगार रस की ग्रन्थ में प्रधानता है। रहीम के सैलानी स्वभाव का यह ग्रन्थ अच्छा परिचय देता है। वैभव और विलास-भावना की भी कवि ने भाषाओं की खिचड़ी बनाई है। यह प्रयास भी हिंदू-मुसलमानों को समीप लाने का एक साहित्यिक प्रकार था जिसके लिए हमें रहीम की दूरदर्शिता का आभारी होना चाहिए। इसी परम्परा में हिन्दी और संस्कृत के सम्मिश्रण की तीसरी पुस्तक रहीम-काव्य है। उसमें भी संस्कृत की सुन्दर छटा के साथ हिन्दी का अच्छा रूप हमें दीखता है। शृंगार-सोरठा और फुटकर पद कवि के अपूर्ण ग्रन्थ हैं। थोड़े-से सोरठों में कवि ने अच्छा रूप चित्रण किया है। फुटकर पद इनके बिखरे पदों का एक संग्रह है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यह पद-संग्रह पहले रास-पंचाध्यायी नाम से रहीम ने लिखा था। उनका मौलिक रूप

आज उपलब्ध नहीं होता। जिस रूप में फुटकर पद मिलते हैं उन्हें रास-पंचाध्यायी के नाम से व्यवहृत करना असंगत तथा भ्रमपूर्ण है।

रहीम की कविता—

रहीम हिन्दी के सुप्रसिद्ध सूक्तिकार कोटि के कवि हैं। इनकी कविता जीवन के इतने अधिक समीप है कि यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि रहीम ने मानव मन, मानव जीवन तथा मानव अनुभूति को सजीव रूप से चित्रित करने का जैसा सफल प्रयास किया है वैसा बहुत कम कवि कर सके। सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात पर होता है कि रहीम का जीवन शुद्ध साहित्यिक या भक्त का जीवन नहीं है। रहीम व्यवसाय की दृष्टि से सेनापति, स्वभाव की दृष्टि से राजनीति-वेत्ता, व्यवहार में मानवप्रेमी और जीवन-यापन में विलास-प्रिय थे। इन सब विलक्षणताओं के होने पर भी रहीम के जीवन में काव्य-प्रेम किस प्रकार अक्षुण्ण बना रहा यह आश्चर्य-जनक बात है। निस्सन्देह रहीम का काव्यप्रेम ही उनकी असाधारण प्रतिभा का प्रमाण है।

रहीम ने अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत और हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। भाषा की प्रकृति तथा साहित्यिक रूप से भी रहीम भली भांति परिचित थे। प्रत्येक भाषा में ग्रन्थ लिखकर रहीम ने इस बात का प्रमाण दिया है कि उन्होंने उस भाषा के साहित्य का अध्ययन किया है। वे स्वयं कविता करते थे और अन्य कवियों को प्रोत्साहित भी करते थे। यही कारण

है कि उनकी प्रशंसा जितने कवियों ने की उतनी हिन्दी में अन्य किसी कवि की नहीं हुई। एक दर्जन से अधिक हिन्दी-कवियों ने रहीम की प्रशंसा में कवित्त लिखे।

रहीम ने मुसलमान होते हुए और अरबी-फारसी के प्रकांड पंडित होते हुए भी हिन्दी भाषा में कविता क्यों की—यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न के विश्लेषण में हमे दो बातें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है एक तो रहीम के समसामयिक हिन्दी-कवियों का रहीम पर प्रभाव और रहीम का उनके काव्य के प्रति अनुराग, दूसरा कारण रहीम की उदारता, विशाल-हृदयता और हिन्दू संस्कृति का परिपूर्ण ज्ञान। रहीम से पहले खुसरो, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने हिन्दू देवी-देवताओं, रीति-रिवाजों, त्यौहारों आदि के चित्रण मे भयकर भूले की हैं किन्तु आश्चर्य का विषय है कि इस प्रकार की कोई त्रुटि या अज्ञान की बात हमे रहीम की कविता में नहीं मिलती। जहाँ हिन्दी भाषा के माधुर्य पर रहीम मुग्ध थे वहाँ साथ ही साथ हिन्दुओं के धर्म पर भी उनकी अनुरागमयी भावना थी। उन्होंने हिन्दुओं के शास्त्र, दर्शन, साहित्य सभी का भली भांति अध्ययन किया था। हिन्दू देवी-देवताओं की मान-मर्यादा को अक्षुण्ण रखते हुए उन्होंने जो प्रेमभाव उनके प्रति व्यक्त किया है वह इस बात का प्रमाण है कि रहीम ने हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता को उसके यथार्थ रूप मे पहचाना था।

रहीम ने जिस ममत्व और अनुराग से हिन्दी भाषा में

कविता की वैसी ममत्व-भावना उनकी अन्य भाषा की कविताओं में उपलब्ध नहीं होती। हिन्दी भाषा के माधुर्य पर रहीम मुग्ध थे। हिन्दी भाषा की समृद्धि और उस युग के भक्त कवियों की रचना ने भी रहीम का ध्यान हिन्दी भाषा की ओर आकृष्ट किया था। कहीं-कहीं तो उनकी रचना में अवतारवाद, कृष्णभक्ति, गंगा-महिमा आदि से सम्बन्ध रखने वाले दोहे मिलते हैं जो उनकी धार्मिक भावना और विश्वास के विषय में भ्रम पैदा करते हैं।

रहीम की काव्य-प्रेरणा का मूल न तो धन-प्राप्ति था और न यश-प्राप्ति ही। उनका तो मूल उद्देश्य मनोरंजन—काव्यरस से स्वान्त:सुख की प्राप्ति ही था। इस उद्देश्य की प्राप्ति में निश्चय ही रहीम को पूर्ण सफलता मिली है। नीति तथा लोक-व्यवहार के सिद्धान्तों की अपने दोहों में जिस सफलता के साथ रहीम ने स्थापना की है वैसी अन्य कवियों में कम ही दृष्टिगत होती है।

रहीम की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। कहीं-कहीं अवधी का पुट उसमें मिल गया है। भाषा का गुण प्रसाद है। कहीं पर भाषा में खींच-तान या शब्दों की तोड़-मोड़ रहीम ने नहीं की। सरल, सुबोध और सरस शब्दों को ही प्राय: रहीम ने अपने काव्य के लिए चुना। रहीम की भाषा का प्रमुख गुण स्वाभाविक सरलता है। सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों ने जैसी ब्रजभाषा का प्रयोग किया, उससे भी अधिक सरल तथा जन-साधारण के लिए सुबोध भाषा रहीम ने अपने दोहों में प्रयुक्त

की। अवधी भाषा के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी की सरल भाषा को ही रहीम ने आदर्श बनाया था। भावों को सुस्पष्ट करने के लिए रहीम के दोहों में कहीं-कहीं अरबी-फारसी के कुछ प्रचलित शब्द मिलते हैं। व्यंजना की तीव्रता के लिए इस प्रकार के शब्दों का रहीम ने जान-बूझ कर प्रयोग किया है। रहीम की भाषा की सफलता का सबसे बड़ा गुण यही है कि यह जन-साधारण—अशिक्षित वर्ग तक के लिए सुबोध है। इसी कारण उसका प्रचार भी बहुत अधिक है। रहीम के दोहे टकसाली सिक्के की तरह आज जन-साधरण में प्रचलित हैं। ये लोकव्यवहार तथा नीति की दृष्टि से पथ-प्रदर्शन का काम करते हैं। इन दोहों में रहीम की अनुभूति स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ती है। स्वानुभूति को व्यापक तथा सहृदय-संवेद्य बनाने के लिए रहीम ने व्यंजना की जिस शैली को स्वीकार किया वह बाद के अनेक कवियों ने ग्रहण की और सतसई की परम्परा में उसे अच्छा स्थान प्राप्त हुआ।

रहीम की कविता में शृंगार, हास्य और शान्त रस की प्रधानता है। शृंगार की प्रधानता का कारण है तत्कालीन शृंगारिक मनोवृत्ति। हिन्दी कविता में नायिका-भेद लिखने की परम्परा चल पड़ी थी। राजाओं के आश्रित रहनेवाले कवियों की मनोवृत्ति दरबारी हो चली और कविगण स्वान्तः-सुखाय कविता न लिख कर अपने आश्रयदाताओं की तुष्टि के लिए काव्य-रचना में लीन रहते थे। रहीम पर इस प्रवृत्ति का सीधा प्रभाव तो न था किन्तु शृंगार की बढ़ती हुई कवि-

प्रवृत्ति की रहीम ने भी उपेक्षा नहीं की। रहीम ने अपनी दोहावली में तो नीति की प्रधानता रखी; किन्तु नगरशोभा, बरवै-नायिकाभेद, बरवै, शृंगार-सोरठा आदि ग्रन्थों मे शृंगार की ही प्रधानता है। यदि रहीम की समस्त रचनाओं के आधार पर रहीम के काव्य का रस देखा जाय तो शृंगार ही ठहरता है। हास्य रस के लिए कवि ने यद्यपि कोई स्वतंत्र काव्य या ग्रन्थ-रचना तो नहीं की किन्तु व्यंग्य, कटाक्ष तथा मृदु हास्य की अभिव्यंजना के लिए रहीम ने अपनी सुन्दर उक्तियों मे हास्य को स्थान दिया है। दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलकारों का प्रयोग करके कवि ने हास्य की अच्छी अभिव्यक्ति की है। आश्चर्य का विषय है कि अपने जीवन में रहीम ने अनेक युद्धों मे सक्रिय भाग लिया, सेनापति और योद्धा के रूप मे बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लडी किन्तु कहीं भी वीर रस की उद्भावना के लिए या वीररस के योग्य काव्य-रचना नही की। वीर रस की यह उपेक्षा कदाचित रहीम ने इसी कारण की कि यदि वे वीर रस के लिए तत्कालीन घटनाओं, युद्धों और नायकों को चुनेंगे तो हिन्दू-मुस्लिम-विरोध का रूप उनमे प्रतिभासित होगा और काव्य मे जाति-गत द्वेष या वैमनस्य की छाया आ जायगी, इस वैर-विरोध को दूर रखने के लिए ही रहीम ने न तो तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का चित्रण किया और न युद्धों आदि का ही वर्णन अपने कविता का विषय बनाया। वीर रस के अनुकूल यद्यपि काव्य की परिस्थितियां नहीं थीं फिर भी रहीम की व्यक्तिगत परि-

स्थितियां ऐसी थी जिनको देख कर रहीम वीर रस का वर्णन कर सकते थे। बाद के समय में भूषण ने शिवाजी को नायक बना कर वीर रस की धारा प्रवाहित की किन्तु उसमे हिन्दू जाति का उत्कर्ष तथा यवनों का अपकर्ष चित्रित किया गया है जो रहीम को कदाचित् इष्ट न था।

रहीम को अपने जीवन मे अनेक प्रकार के कटु एव तीक्ष्ण अनुभव हुए थे। वे वैभव से दरिद्रता की स्थिति मे भी पहुँचे थे और दुनिया की ऊँच-नीच उन्होंने अपने जीवन में अच्छी तरह देखी थी। अपने पुत्रों का निधन भी उन्होंने देखा था और राजाओं द्वारा अपना अपमान भी। यह सब कुछ देख कर—अनुभव करके उन्होने जो अनुभव लिखे उनमे किसी भी व्यक्तिगत घटना का उल्लेख नहीं किया। कदाचित् वे अपने जीवन की घटनाओं को अपने काव्य की प्रेरक भावना होने पर भी व्यक्तिगत रूप से चित्रित नहीं करना चाहते थे।

रहीम के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें ऊहा, उड़ान या ऊँची कल्पना की कोई टेढ़ी बात नहीं—परिश्रम या प्रयास द्वारा काव्य को दुरूह बनाने का भी रहीम ने कहीं प्रयत्न नहीं किया। उनकी रचनाओं मे प्रयासजन्य दुरूहता कहीं नहीं है। सरलता, सरसता, सुबोधता तथा प्रसाद-परिपूर्णता ही रहीम की कविता की विशेषता है।

रहीम ने अलंकारों को काव्य का प्रसाधक मान कर उनका उतना ही प्रयोग किया है जितने से वे काव्य का भार न बनें।

रीतिकालीन कवियों की भाँति रहीम की कविता में अलंकारों के उदाहरण और लक्षण नहीं मिलेंगे। रहीम का उद्देश्य भी नहीं था कि वे अलंकारों से अपनी कविता को रीतिकाव्य का अंग बनावें। फिर भी रहीम ने कुछ प्रमुख अलंकारों का प्रयोग बड़ी सुन्दर शैली के साथ किया है। रहीम के प्रिय अलंकारों में उपमा, रूपक, श्लेप, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा और स्वाभावोक्ति हैं। इन अलंकारों का, कवि ने अभिव्यंजना को सरल सुस्पष्ट और तीव्र बनाने के लिए ही, प्रयोग किया है; काव्य को व्यर्थ ही अलंकृत करने या उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए नहीं।

रहीम के काव्य में कुछ चुने हुए छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। दोहा, बरवै, सोरठा और कवित्त ही रहीम के प्रिय छन्द हैं। प्रायः सारी कविता इन्हीं तीन-चार छन्दों में लिखी गई है। कविता में इन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। किन्तु कतिपय कवित्तों के साथ रहीम का सम्बन्ध बताया जाता है अतः कवित्त को भी रहीम की कविता का छन्द लिखा गया है। दोहा, सोरठा और बरवै तीनों ही छन्द अति लघु हैं। इतने छोटे छन्दों में भावों को भरना जहाँ कठिन होता है वहाँ काव्य-सौन्दर्य लाना भी सरल नहीं। रहीम के छन्दों में त्रुटियाँ नहीं हैं।

संक्षेप में, रहीम का काव्य मानव-मन की अनुभूतियों का सजीव चित्रण करने वाला काव्य है। यद्यपि सौष्ठव, पद-

लालित्य, अलंकार और रसपरिपाक की दृष्टि से हम उसे उच्च कोटि का काव्य नहीं कह सकते किन्तु सरलता तथा अनुभूति चित्रण की सफलता की दृष्टि से यह एक सुन्दर रचना है। भावों की गहनता भी हमे रहीम के काव्य मे दृष्टिगोचर नहीं होती। तुलसी और सूर आदि कवियों के समान अर्थगौरव भी रहीम मे नहीं है। रहीम ने लोकप्रियता की दृष्टि से जो ख्याति अर्जित की है वह हिन्दी के बहुत कम कवियों को प्राप्त हुई। रहीम की अनुभूति-चित्रण की कला कितनी व्यापक और प्रभावोत्पादक हुई यह जानने के लिए रहीम का परवर्ती हिन्दी कवियों की कविता पर प्रभाव ढूँढने से विदित हो सकता है। परवर्त्ती प्रायः सभी कवियों पर किसी न किसी रूप में रहीम का प्रभाव परिलक्षित होता है जो रहीम के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए पर्याप्त है।

महाकवि केशव

निर्गुण भक्ति ने विदेशी अत्याचार के नीचे पिसती हुई जनता के हृदय की नैराश्य-जन्य शुष्कता को कविता के क्रोड़ मे सचित कर दिया था। कबीर की तल्लीनता यद्यपि सरस्वती की वीणा की झकार की मधुरता को समय-समय पर बलात् उनकी जिह्वा पर लाकर बैठा देती थी, फिर भी उनके पीछे बहुत दिन तक यह बात न चल सकी। परंपरा संप्रदायों का प्रवर्तन कर सकती है, पर कविता को अपने आँचल मे बाँध नहीं ले जा सकती। परपरा के पालन के लिए कही गई साखियों या शब्दो मे न कविता का अतरंग आ पाया है और न बहिरग। और आ भी कैसे सकता है? कविता का अंतरंग या आत्मा भावों की तीव्रता है जिनका उद्भव हृदय की तल्लीनता के बिना असंभव है। और वैसे तो बहिरंग-सौदर्य अंतरंग-सौदर्य का अनुसरण करता है, पर कभी-कभी स्वाभाविक वाह्य सौदर्य की वृद्धि के लिए बाहरी उपाय भी काम में लाये जाते है। इसके लिए साहित्य-शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। इन दोनों बातों से ये "निर्गुनिए" साधु कोरे होते थे। न इनका कविता मे भावुकता होती थी और न पांडित्य ही। अधिक से अधिक मूल्य मानने पर उनकी वाणियाँ रूखी-सूखी भाषा में लिखे गये

दर्शन-ग्रंथ मात्र कहे जा सकते है, जिनका एकमात्र उद्देश्य वैराग्योत्पादन था (यद्यपि दार्शनिक भी उनके दर्शन-ग्रन्थ कहे जाने पर आपत्ति कर सकते है)। इसलिए वे तभी तक जनता को आकर्षित कर सकते थे, जब तक उसे जीवन अप्रिय लगता रहा। परन्तु जब मुग़लों ने भारतवासी होकर भारत पर शासन करना आरम्भ किया और लोगों को जीवन की सामान्य आवश्यकताओ के उपस्कर उपलब्ध होने लगे तब यह स्वाभाविक था कि इन फीको बातों से हटकर उनकी रुचि सरसता और सुन्दरता की ओर झुकती। समय की इसी प्रवृत्ति ने साहित्य-क्षेत्र मे एक ओर सगुण भक्ति का और दूसरी ओर साहित्य-शास्त्र-चर्चा का वह प्रवाह चलाया जिसे किसी उपयुक्त नाम के अभाव मे रीतिप्रवाह कह सकते है। सूर, तुलसी आदि सगुणभक्त कवियों ने वैराग्य-विमोहित कविता मे अंतरात्मा फूकने का प्रयत्न किया और रीति के आचार्य उसके बहिरङ्ग को सॅवार कर उसका ठाट-बाट खड़ा करने में यत्नवान् हुए। आगे चलकर मुगल दरबार की बढ़ती हुई शानोशौक़त तथा ऐशोइशरत ने, जिसकी नकल करने को भारतीय राजाओं ने आपस मे स्पर्द्धा दिखाई, केशवदास द्वारा प्रवर्तित रीति-प्रवाह को इतनी उत्तेजना दी कि भक्ति-प्रवाह थम-सा गया और साहित्य-क्षेत्र मे रीति-प्रवाह का साम्राज्य हो गया, यद्यपि स्वयं केशव ने भी भक्ति-प्रवाह मे कुछ योग दिया था।

केशव को रीति-प्रवाह का प्रवर्तक कहने से हमारा यह

तात्पर्य नहीं कि हिंदी में उन्होंने पहले-पहल साहित्य-शास्त्र पर क़लम चलाई; उनसे पहले भी साहित्य-शास्त्र के अङ्गों पर ग्रंथ लिखे जा चुके थे। हिंदी-साहित्य के इतिहास मे पुष्प नामक कवि सब से पहला कवि समझा जाता है। शिवसिंह सेंगर ने ७०० विक्रमाब्द में इसका होना लिखा है। कहते है, उसने अलंकार पर ही अपना ग्रंथ लिखा था जो अब मिलता नहीं। गोप कवि ने भी अलंकार के दो छोटे-छोटे ग्रंथ लिखे थे, पर अब वे अप्राप्य है। हिंदी-साहित्य-शास्त्र संबंधी सबसे पुरानी पुस्तकें मोहन का शृङ्गार-सागर और कृपाराम की हिततरङ्गिणी हैं, जो अकबर के राजत्वकाल में रची गई थी। इसी समय के लगभग रहीम ने बरवै छन्दों में "नायिकाभेद" लिखा और कर्णेश ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण तीन छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे। हिततरङ्गिणी में अत्यन्त संक्षेप में रस का निरूपण है, शृङ्गार-सागर मे केवल शृङ्गार-रस का वर्णन है और कर्णेश के ग्रंथ अलकार पर है। स्वयं केशव के बड़े भाई बलभद्र ने नखशिख और दूषण-विचार पर लिखा था। परन्तु ये सब उथले और क्षीण प्रयत्न थे और रुचि के परिवर्तन की दिशा के संकेतक होने पर भी साहित्य-शास्त्र के लिए विस्तीर्ण और अप्रतिबंध मार्ग न खोल सके। इसी दिशा मे सब से पहला विस्तृत और गंभीर ग्रंथ केशव ही का था और यद्यपि उनके मत को हिन्दी मे साहित्यशास्त्र पर लिखने वालों ने आधार रूप से नहीं ग्रहण किया, फिर भी उन्होंने लोगों की प्रवृत्ति को एक विशेष दिशा की ओर पूर्णतया मोड़ दिया।

इसीलिए वे रीति-प्रवाह के प्रवर्त्तक और प्रथम आचार्य माने जाते हैं। केवल लेखनी के ही मुँह से बोलनेवाले आचार्य नहीं थे, व्यावहारिक आचार्य भी थे। अपनी शिष्या प्रवीण-राय के प्रतिनिधित्व से उन्होंने कवि-समुदाय को कविता के बाह्य रूप की बनावट सिखाने का काम अपने हाथ में लिया था, और उस काम को करने के लिए वे सर्वथा योग्य भी थे। आचार्य में जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सब केशव में वर्तमान थे। वे संस्कृत के भारी पंडित थे, साहित्यशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, विद्वान् थे, प्रतिभासंपन्न थे और इंद्रजीतसिंह के मुसाहिब, मंत्री और राजगुरु होने के कारण ऐसे स्थान पर भी थे जहाँ से वे लोगों मे अपने लिए आदर-बुद्धि उत्पन्न कर सकते और अपने प्रभाव को बहुत गुरु बना सकते। केशव की ६ पुस्तकों मे से रामालकृतमंजरी, कविप्रिया और रसिकप्रिया साहित्य-शास्त्र से संबंध रखती है। रामालंकृतमंजरी पिंगल पर लिखी गई है, कविप्रिया अलंकार-ग्रंथ है और रसिकप्रिया मे रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि बातों पर विचार किया गया है।

केशव की रचनाएँ लक्षणों और उदाहरणों में ही समाप्त नहीं हो जातीं। ऊपर कहे गये ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने और चार ग्रंथों की रचना की। रामचंद्रिका, जहाँगीर-जस-चंद्रिका, वीरसिंहदेव-चरित और विज्ञानगीता। जहाँगीर-जस-चंद्रिका और वीरसिंहदेव-चरित क्रमशः जहाँगीर और वीरसिंहदेव की प्रशंसा में लिखे गये है। विज्ञानगीता एक प्रकार से क्षीण-प्राय निर्गुण भक्ति का ही विरक्ति-प्रचारक अवशेष है। रामचंद्रिका

केशव की सब से उत्कृष्ट रचना है, पर उसकी रचना भी ऐसी मालूम होती है मानो भिन्न-भिन्न लक्षणों के उदाहरण स्वरूप रचे गये पद्यों का तरतीब-वार संग्रह हो। भूषणों तक के उदाहरण उसमें मिलते है। छंदों की ओर दृष्टि डालने से तो यह पिंगल का-सा ग्रंथ मालूम पड़ता है। आदि मे एकाक्षरी से लेकर कई अक्षरों तक के छंदों का क्रमश एक ही स्थान पर मिलना इस विचार को पुष्ट करता है कि हो न हो केशव रामचंद्रिका के पहले पिंगल ही का ग्रंथ बना रहे थे, परंतु विपय की संभावनाओं तथा सगुण भक्ति के प्रवाह मे योग देने की इच्छा से उन्होंने उसे वह रूप दे डाला, जो हमें आज पढ़ने को मिलता है। रामालंकृत-मजरी केशव का बनाया हुआ एक पिंगल-ग्रन्थ है, यह हम कह चुके है। रामचन्द्रिका की कुछ हस्त-लिखित प्रतियों मे कुछ छन्दों के नीचे 'रामालंकृतमजर्या' लिख कर उन छन्दों के लक्षण लिखे है। सम्भव है रामचन्द्रिका रामालंकृतमंजरी का परि-वर्तित या परिवर्धित रूप हो या ये छन्द रामालंकृतमंजरी मे दिये गये हों। रामचंद्रिका के बहुत से छद कविप्रिया मे भी उदाहरण स्वरूप दिये गये हैं। रामालंकृतमंजरी का समय तो ज्ञात नहीं, पर यदि कविप्रिया और रामचंद्रिका का समय ज्ञात न होता तो हमारी यही कहने की प्रवृत्ति होती कि यह ग्रन्थ भिन्न-भिन्न लक्षण-ग्रंथों से संकलित कर संगृहीत किया गया है। बाबा बेनी-माधवदास ने अपने मूल गोसाईचरित में लिखा है कि एक बार केशवदास जी तुलसीदास से मिलने गये, पर वे तुरन्त ही उनके स्वागत के लिए न जा सके। केशव

जी समझे कि इन्हे रामचरितमानस रचने का बड़ा गर्व हो गया है, उसे दूर करना चाहिए। उलटे पाँओ वापिस आकर उन्होंने एक ही रात में रामचंद्रिका बना कर तुलसीदासजी को दिखा दी। रामचंद्रिका सरीखे बृहद् ग्रंथ को एक ही रात में नकल कर सकना भी असम्भव नही तो अत्यंत कठिन अवश्य है, उसे रचने की तो बात दूर रही। क्या यह प्रकारांतर से यह सूचित करने के लिए तो नहीं कहा गया है कि रामचंद्रिका एक संग्रह-मात्र ग्रंथ है। गंभीर प्रकृति के लोगों को यह सब निरर्थक प्रलाप मालूम होगा। इसके बल पर हम यह भी नहीं कहना चाहते कि अवश्य ही रामचंद्रिका लक्षणों के उदाहरणों का संग्रह है, पर इतना अवश्य है कि रामचंद्रिका को लिखते समय केशव की आँखों के सामने वे लक्षण सर्वदा बने रहते थे, जिन्हे उन्होंने आगे चल कर ग्रन्थ रूप मे प्रकट किया। इसी से रामचन्द्रिका मे भी अभ्यन्तर कम आ पाया है।

रामचन्द्रिका का पठन-पाठन भी इने-गिने धुरन्धर पंडितों तक ही परिमित रहा। रामचन्द्रिका के आज बहुत से प्रशंसक मिल सकते है, परन्तु उन्हे ज़रा टटोल कर देखिए तो यह जान कर आपको आश्चर्य होगा कि वे रामचन्द्रिका का नाम ही नाम जानते है (किसी परीक्षा के लिए विवश होकर पढ़नी ही पड़ी तो दूसरी बात है)। रामचन्द्रिका का नाम रामकथा की महिमा से हुआ है, केशव की कविता की हृदयस्पर्शिता से नहीं। संक्षेप में, केशव के काव्य में हमें रागात्मक तत्व बहुत थोड़ा मिलता है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि उनका निरीक्षण

बहुत परिमित था, उन्होंने देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। मनुष्य-जीवन तो उनकी आँखों में पड़ भी गया था, पर प्रकृति मे अतर्हित जीवन का स्पन्दन वे नहीं देख पाये। मनुष्य-जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं में जहाँ उनकी दृष्टि गई है, उनकी भावुकता भी जाग्रत हो गई है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

उसके सुख को देखकर जलनेवाली सौत को जलाने की कौशल्या की यह इच्छा कितनी स्वाभाविक है।

रहौ चुप ह्वै सुत क्यो बन जाहु,
न देखि सकैं तिनके उर दाहु;

और जो नासमझी और चारित्रिक निर्बलता के कारण अपने ही प्रिय का अपकारी बन जाय ऐसे आदरणीय के प्रति भी यह उपेक्षा और झुंझलाहट भी—

लगी अब बाप तुम्हारेहिं बाइ।

किसी अपने ही मुँह से तारीफ करने वाली की गर्वोक्तियाँ सुन कर दिल मे स्वयमेव तानेज़नी की जो उमङ्ग उठती है उसे परशुराम के प्रति भरत के इस कथन मे देखिए—

हैहय मारे नृपति संहारे सो यश लै किन युग-युग जी जै।

भय और लज्जा से मनुष्य किस प्रकार सिकुड़ जाता है, वह रावण के सामने सीता की उस दशा मे दिखाया है, जिसमे

सबै अंग लै अंग ही मे दुरायो।

उन्होंने मनुष्य पर जब घोर आपत्ति आती है तब वह पागल-

सा हो जाता है । वियोग भी ऐसी ही आपत्ति है, जिसमें वियुक्त अपनी सुध-बुध भूल जाता है, अपनी परिस्थिति को नहीं देखता, कंकड़ पत्थर से भी प्रश्न करके उत्तर की प्रतीक्षा करता है । परन्तु यह पागलपन मानसिक अव्यवस्था का फल नहीं होता, बल्कि प्रियाभिमुख अत्यन्त सजग राग का निकास है । हनुमान् राम की मुद्रिका साथ ले आये थे जिसको दिखा कर उन्होंने सीता को विश्वास दिलाया कि मैं राम का ही दूत हूँ । उस मुँदरी के प्रति सीता जी के इस भावपूर्ण कथन में भी यही बात देखने को मिलती है—

> श्रीपुर मे बन मध्य हौ, तू मग करी अनीति,
> कहि मुँदरी अब तियन की को करिहै परतीति ?
> कहि कुशल मुद्रिके ! राम गात ... .

परन्तु यह निरीक्षण भी इतना पूर्ण नहीं था कि बहुत दूर तक केशव की सहायता कर सकता । कई मर्मस्पर्शी घटनाओं का भी उन्होंने ऐसा वर्णन किया है जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों को वे बहुत ही कम समझ पाये थे । यहाँ पर एक ही उदाहरण देंगे। रामचन्द्र कपटमृग को मारने गये थे । 'हा लक्ष्मण' शब्द सुनकर सीता ने सोचा कि राम लक्ष्मण को सहायता के लिए बुला रहे हैं, पर लक्ष्मण ने सीता को अकेला छोड़ना ठीक नहीं समझा तब

> राजपुत्रिका कह्यो सो और को कहै सुनै ।

लक्ष्मण को जाना पड़ा । वे सीता को अभिमन्त्रित रेखा के बाहर आने की मनाही कर चले गये । कपट-योगी रावण को

भिक्षा देने के लिए सीता ने लक्ष्मण की शिक्षा का उल्लङ्घन किया और रावण द्वारा हरी गईं। तब वे बिलखने लगीं—

हा राम, हा रमन, हा रघुनाथ धीर।
लङ्काधिनाथ वश जानहुँ मोहि वीर॥
हा पुत्र लक्ष्मण छोडावहु वेगि मोही।
मार्तंड वंश यश की सब लाज तोही॥

यदि केशव मनोवृत्तियों से परिचित होते तो इस अवसर पर इसी अपील मे उनकी सीता अपना हृदय खोलकर रख देती; अपनी निस्सहाय अवस्था का जिक्र करतीं, उसे कोसतीं, केवल लंकाधिनाथ कह कर ही न रह जातीं, लक्ष्मण को बुरा-भला कहने तथा उनका आदेश न मानने के लिए अपने आपको धिक्कारती, अपने पर व्यङ्ग छोड़तीं। पर इस तार खबर मे क्या है? और कहाँ तक आत्मीयता झलकती है? 'रमन' और 'पुत्र' को छोड़कर कौन बात ऐसी है, जिसको आपत्ति मे पड़ी हुई स्त्री दूसरे के प्रति नही कह सकती? पर कई स्थल तो उन्होंने साफ छोड़ दिए हैं। मनुष्य-जीवन के अन्दर तो उनकी अन्तर-दृष्टि कुछ दिखाई भी देती है, पर प्रकृति के जितने भी वर्णन उन्होंने दिए है वे प्रकृति-निरीक्षण का जरा भी परिचय नहीं देते। क्लिष्टता की दृष्टि से लोग तो उनको तुलना मिल्टन से करते है। मिल्टन से उनकी इतनी और समानता है कि उन्होंने भी प्रकृति का परिचय कवि-परंपरा से पाया है। मिल्टन लावा पक्षी को खिड़की पर ला बिठाते हैं तो ये कही बिहार की तरफ विश्वामित्र के तपोवन में—

एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।

कह चलते है। मालूम होता है कि प्रकृति के बीच वे आँखे बंद करके जाते थे, क्योंकि प्रकृति के दर्शन से प्रकृत कवि के हृदय की भाँति उनका हृदय आनन्द से नाच नहीं उठता। प्रकृति के सौन्दर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नही होता। उनके हृदय का वह विस्तार नहीं है जो प्रकृति में भी मनुष्य के सुख-दुख के लिए सहानुभूति ढूँढ़ सकता है, जीवन का स्पंदन देख सकता है, परमात्मा के अन्तर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है। फूल उनके लिए निरुद्देश्य फूलते हैं, नदियाँ बेमतलब बहती है, वायु निरर्थक चलती है। प्रकृति मे वे कोई सौंदर्य नहीं देखते, बेर उन्हे भयानक लगती है, वर्षा काली का स्वरूप सामने लाती है और उदीयमान अरुणमय सूर्य कापालिक के शोणित भरे खप्पर का स्वरूप उपस्थित करता है। प्रकृति की सुन्दरता केवल पुस्तकों में लिखी सुन्दरता है। सीताजी केवल वीणावादन से मुग्ध होकर घिर आये हुए मयूर की शिखा, सूए की नाक, कोकिल का कण्ठ, हरिणी की आँखे, मराल के मन्द-मन्द चाल चलनेवाले पाँव इसलिए उनके राम से इनाम नही पाते है कि चीजें वस्तुतः सुन्दर है, बल्कि इसलिए कि कवि इन्हे परम्परा से सुन्दर मानते चले आए है, नहीं तो इनमे कोई सुन्दरता नही। इसीलिए सीता जी के मुख की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं—

देखे भावे मुख अनदेखे कमल चंद।

कमल और चन्द्रमा देखने में सुन्दर नहीं लगते? हद हो गई हृदयहीनता की!

कल्पना की बे-पर की उड़ानें अलबत्ता केशव ने खूब मारी है। जहाँ किसी की कल्पना नहीं पहुँच सकती वहाँ उनकी कल्पना पहुँच जाती है। उनकी उत्कट कल्पना के नमूने रामचन्द्रिका के किसी भी पन्ने को उलट कर देखने से मिल सकते है। यहाँ एक ही दो उदाहरण काफी होंगे।

लङ्का मे आग लगी है—

कंचन को पिघल्यो पुर पूर पयोनिधि मे पसर्‌यो सो सुखी ह्वै।
गंग हजार मुखी गुनि 'केसौ' गिरा मिली मानौ अपार मुखी ह्वै॥

अग्नि के बीच बैठी हुई सीता को देखकर उद्दीप्त हुई केशव की कल्पना अत्यन्त चमत्कारक है—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी, कि संग्राम की भूमि मे चंडिका सी।
मनो रत्न सिंहासनस्था सची है, किधौं रागिनी राग पूरे रची ह्वै॥

हाँ, तो केशवदास में कलापक्ष अत्यंत प्रबल है। उनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण उनका वाग्वैदग्ध्य ऊँचे दर्जे का है। रामचन्द्रिका सुन्दर और सजीव वार्तालापों से भरी हुई है। व्यंजनाएँ कई स्थानों पर बहुत अच्छी हुई हैं, पर वस्तु या अलंकार की, भाव की नहीं—

कैसे बँधाओ? जो सुन्दरी तेरी छुई दग सोवत पातक लेखो।

मैंने (हनुमान् ने) तेरी सोती हुई स्त्री को देखा भर था, इस पाप से बाँधा गया हूँ, परन्तु तेरी (रावण की) क्या दशा होगी, जो पराई स्त्री को पाप-बुद्धि से हर लाया है; यह व्यञ्जित है।

नये और लोकोपकारी विचारों की भी उन्होंने खूब उद्भावना की है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण उस लथाड़ में है, जो उन्होंने लव के मुँह से विभीषण को दिलाई है। जिस खूबी से रावण ने अङ्गद को फोड़ने का प्रयत्न किया था उससे उनकी राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता है। अपनी इसी निपुणता के कारण वे बीरसिंहदेव का जुरमाना माफ कराने के लिए दिल्ली भेजे गये थे। राज्य-व्यवहार वे अच्छी तरह जानते थे। राज-सभा मे रावण का आतंक प्रतिहारी की इस भिड़की में अंकित है—

> पढ़ै बिरंचि मौन वेद जीव सोर छंडि रे।
> कुबेर बेर कै कही न जच्छ भीड मंडि रे॥
> दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संग ही,
> न बोलु चन्द मन्द बुद्धि इन्द्र की सभा नही॥

संक्षेप में, अपने निरीक्षण से एकत्र की हुई सामग्री को विचारों के पुष्ट ढॉचे मे ढालकर, उसे कल्पना का सौंदर्य देकर तथा रागात्मिका वृत्ति का उसमें जीवन फूँककर सफल कवि कविता का जीता-जागता मनोहर रूप खड़ा कर सकता है। जिसमें ये सब बातें न होंगी उसे यद्यपि हम कवि कहने से इनकार नहीं कर सकते तथापि सफल कवि कहने को बाध्य नहीं किये जा सकते। केशव मे विचारों की पुष्टता है, कल्पना की उड़ान है, और यद्यपि रागात्मिकता का सर्वथा अभाव नहीं है, फिर भी प्रायः अभाव ही-सा है। निरीक्षण भी उनका एकदेशीय है जो मनुष्यके जीवन-व्यवहार ही से संबंध रखता है, मनुष्य

की मनोवृत्तियों पर उनका उतना अधिकार नहीं और प्रकृति-निरीक्षण तो उनमे है ही नहीं। भाषा भी उनकी काव्योपयोगी नही है। माधुर्य और प्रसाद से तो जैसे वे खार खाये बैठे थे। परन्तु उनके नाम और उनकी करामात का ऐसा जादू है कि उन्हे महाकवि केशवदास कहे बिना जी ही नहीं मानता, यद्यपि कविता के प्रजातंत्र में 'महा' और 'लघु' के विचार के लिए स्थान नहीं है, क्योंकि कविता यदि सच्ची कविता है तो, चाहे वह एक पंक्ति हो या एक महाकाव्य, समान आदर की अधिकारिणी है और तदनुसार उसके रचयिता भी, वैसे तो महाकाव्य लिखनेवाले सैकड़ों महाकवि निकल आयेंगे। परन्तु यदि आदत से विवश होकर इस उपाधि का साहित्य-साम्राज्य मे प्रयोग आवश्यक ही हो तो उसे तुलसी और सूर के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। हॉ, हिंदी के नवरत्नों मे (कविरत्नों मे नही) केशव का स्थान वाद-विवाद की सीमा के बाहर है, क्योंकि साहित्य-शास्त्र की गंभीर चर्चा द्वारा उन्होंने हिंदी के साहित्य-क्षेत्र मे एक नवीन ही मार्ग खोल दिया, जिसकी ओर उनसे पहले लोगों का बहुत कम ध्यान गया था।

कविवर भूषण

जीवन-परिचय—

कविवर भूषण के सम्बन्ध में अब तक जो सामग्री उपलब्ध हुई है वह संदिग्ध है। उन एक दोहे के आधार पर यह कहा जाता है कि उनका जन्म कानपुर ज़िला के तहसील घाटमपुर के यमुनातट तिर्वापुर (त्रिविक्रमपुर ग्राम) में हुआ था। वह त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कहा जाता है कि वह देवी के बड़े भक्त थे जिसके आशीर्वाद से उनके चार पुत्र—चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकण्ठ उपनाम जटाशंकर—थे। चारों भाई कवि थे। उनमें भूषण वीर रस के बड़े प्रतिभाशाली कवि हुए। उनका जन्म सम्वत् अनुमानतः १६९२ माना जाता है।

भूषण बाल्यकाल से ही बड़े स्वतंत्र और उद्दण्ड प्रकृति के थे। आरम्भ में उन्हें सरस्वती से अधिक प्रेम नहीं था। एक विद्वान् के घर में जन्म लेने के कारण उन्होंने न्यूनाधिक पढ़ना-लिखना अवश्य सीख लिया था, परन्तु वह उनकी जीविका के लिए पर्याप्त नहीं था। आलस्यपूर्ण जीवन उन्हें प्रिय था। भाई कमाते थे और भूषण मस्त खाते थे। माता-पिता का देहान्त हो चुका था। बाहर भाइयों और भीतर भाभियों का राज्य था। एक दिन उनकी बड़ी भाभी ने अवसर पाकर ऐसा ताना

मारा कि भूषण छटपटा उठे। बात सच थी, तीर की तरह लग गई। वह उत्तेजित हो गये और घर से निकल पड़े। इस साधारण घटना, प्रक्षुब्ध भाभी के उस व्यंगपूर्ण हास्य ने भूषण को भूषण बना दिया।

प्रणवीर भूषण घर से निकल कर यत्र तत्र विद्याध्ययन करने लगे। इस सम्बन्ध मे एक किम्वदन्ती है। कहा जाता है कि घर से निकलने के पश्चात् भूषण देवी के मन्दिर मे गये और वहाँ उन्होंने अपनी जीभ काट कर उस पर चढ़ा दी। उसी समय से उनकी वाणी फूट निकली और वह कवीश्वर हो गये। परन्तु इस कथा का आधार केवल उनकी देवी की भक्ति है। हमारी समझ मे अध्ययन-काल ही मे भूषण की कवित्व-शक्ति का उदय हुआ और तभी से वे सुन्दर रचना करने लगे। कालान्तर मे उन्हे आश्रयदाता की आवश्यकता पड़ी। उस समय चित्रकूट-नरेश के सुपुत्र रुद्रराम बड़े कविता-प्रेमी थे। भूषण घूमते-फिरते उन्ही के पास गये। रुद्रराम ने भूषण की प्रतिभा देखकर उनका बहुत सम्मान किया। और उन्हे 'कवि भूषण' की उपाधि से विभूषित किया। इस उपनाम से वे इतने प्रसिद्ध हुए कि लोग उनका वास्तविक नाम ही भूल गये।

रुद्रराम सोलंकी के यहाॅ से भूषण कहाॅ गये, इस विषय मे लोगों के दो मत हैं। एक का कथन है कि वह घूमते-फिरते अपने भाई चिन्तामणि के पास गये जो दिल्ली मे राज-कवि थे। उस समय मुग़ल-सम्राट् औरङ्ग़ज़ेब था। चिन्तामणि उसी के दरबार में भूषण को ले गये। औरङ्ग़ज़ेब कविता-प्रेमी

था। उसके दरबार में कई राजकवि थे। इसलिए भूषण की प्रतिभा की परीक्षा के विचार से उसने उनकी कविता सुनने की इच्छा प्रकट की। भूषण ने कहा—"मेरे भाई चिन्तामणि शृंगारी कवि है। उनकी कविता सुनकर आपका हाथ ठौर-कुठौर पड़ गया होगा। इसलिए आप अपना हाथ धोकर तब मेरी कविता सुनिए। मैं वीर रस की कविता पढ़ता हूँ। मेरी कविता सुनकर आपका हाथ मूँछ पर चला जायगा। हाथ न धोने से मूँछ अपवित्र हो जायगी।" यह सुनकर औरंगज़ेब ने अविश्वास प्रकट करते हुए कहा—"यदि मेरा हाथ मूँछ पर न गया तो मै तेरा सिर कटवा लूँगा।" भूषण ने उनकी यह शर्त सहर्ष स्वीकार कर ली और उसी क्षण वीर रस के छः कवित्त कहे। श्री कुँवर महेन्द्रपालसिंह का कहना है कि उन छन्दों मे एक छन्द यह भी है—

कीन्हे खंड-खंड ते प्रचंड बल-बंड बीर,
मंडल मही केअरि खंडन भुलाने है।
लै-लै दंड छंडे ते न मंडे सुख रंचक हू,
हेरत हिराने ते कहूँ न ठहराने है॥
पूरब पछांह आन माने नहिं दच्छिन हू,
उत्तर धरा को धनी रोषत निज थाने हैं।
भूषन भनत नवखंड महि मंडल मे,
जहां-तहां दीसत अब साहि के निसाने है॥

ऐसे वीररस परिपूर्ण ओजस्वी कवित्त सुनकर औरंगज़ेब जोश में आ गया। उसका हाथ मूँछ पर चला गया। भूषण की

प्रतिज्ञा पूरी हो गई। उसी दिन से भूषण उसके दरबार में रहने लगे। कुछ समय पश्चात् एक दिन बादशाह ने अपने राजकवियों से अपनी सच्ची प्रशंसा सुनने की इच्छा प्रकट की। भूषण ने इस पर 'किबले की ठौर बाप बादशाह शाहजहां' आदि कवित्त पढ़े। इन कवित्तों को सुनकर औरंगज़ेब इतना बिगड़ा कि उसने भूषण को अपने दरबार से तुरन्त निकल जाने की आज्ञा दे दी। उसी समय घर आकर उन्होंने अपनी कबूतरी घोड़ी सजाई और दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया।

दूसरे मतवालों का कथन है कि ऊपर की कहानियाँ कल्पित हैं। अतएव यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भूषण औरंगज़ेब के दरबार में रह चुके थे। ऐसी दशा में उनका यह अनुमान है कि 'हृदयराम सुत-रूद्र' के यहाँ होते हुए वह सीधे रायगढ़ पहुँचे। एक मत और है जो इन दोनों मतों के विरुद्ध है। उसके अनुसार भूषण का शिवाजी के समय में होना ही संदिग्ध है। जो भी हो, भूषण की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनको मुगल-दरबार की सभ्यता का अच्छा ज्ञान था। दिल्ली-दरबार उनका देखा हुआ था। वह वहाँ कब गये थे, यह अवश्य निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

भूषण के रायगढ़ पहुँचने के सम्बन्ध में एक कथा है। कहते हैं, संध्या-समय रायगढ़ पहुँच कर भूषण एक देवालय में ठहरे। दैवयोग से उस दिन शिवाजी भी अपने छद्मवेश में वहाँ पहुँचे। भूषण का परिचय पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने

शिवाजी सम्बन्धी रचनाएँ सुनने की इच्छा प्रकट की। उस समय भूषण ने यह छन्द पढ़ा :

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर,
रावण सदम्भ पर रघुकुलराज है।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुमदण्ड पर चीता मृगझुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर, जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

शिवाजी ने अपनी प्रशंसा का यह छन्द अठारह बार पढ़वाकर सुना। जब भूषण पढ़ते-पढ़ते थक गये और आगे पढ़ने से उन्होंने इन्कार कर दिया तब शिवाजी ने अपना परिचय देते हुए उन्हें पुरस्कृत किया और उन्हें अपना राजकवि बना लिया। यही कथा दूसरे लोग दूसरी तरह से कहते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन कथाओं का कोई महत्त्व नहीं है। भूषण शिवाजी के राज-कवि थे और वह उनके साथ कई लड़ाइयों में भी गये थे। इन लड़ाइयों का उन्होंने आँखों-देखा वर्णन किया है।

भूषण शिवाजी के दरबार में बहुत दिनों तक रहकर सं० १७३१-३२ में अपने घर लौटे। लौटते समय मार्ग में वह छत्रसाल बुन्देला से भी मिले। उनके दरबार में भी वह कुछ दिनों तक रहे। कहा जाता है कि जिस समय भूषण उनके दरबार से विदा

होने लगे उस समय उन्हे सम्मानित करने के लिए उन्होंने भूषण की पालकी का डंडा अपने कन्धे पर रख लिया। भूषण महाराज छत्रसाल की ऐसी नम्रता देखकर "बस, महाराज, बस" कहकर तुरन्त पालकी पर से कूद पड़े और उनकी प्रशंसा में दो-चार कवित्त और पढ़े जो 'छत्रसाल-दर्शक' मे संगृहीत हैं।

घर आकर भूषण ने कुछ दिनों तक विश्राम किया। इसके बाद वह कमाऊँ-नरेश के यहाँ गये। वहाँ उनका उचित आदर-सत्कार नहीं हुआ। चलते समय कमाऊँ-नरेश ने उन्हे एक लाख रुपया दान मे देना चाहा, परन्तु भूषण ने उनका दान स्वीकार नही किया। इस घटना के कुछ समय पश्चात् वे शिवाजी के पास फिर गये और समय-समय पर अपनी रचनाएँ उन्हे सुनाते रहे। इन रचनाओं मे से अधिकांश शिवा-बावनी मे संगृहीत है। सं० १७३७ वि० मे शिवाजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् भूषण घर लौट आये और कभी-कभी महाराज छत्रसाल के यहाँ आते-जाते रहे।

सं० १७६४ मे जब शिवाजी के पौत्र साहुजी को दिल्ली की कैद से छुटकारा मिला तब भूषण उनसे मिलने गये। वे साल-डेढ़ साल उनके दरबार मे रहे और फिर घर लौट आये। सं० १७६८ में वे बूँदी गये, परन्तु वहाँ के स्वागत-सम्मान से उन्हे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए वे छत्रसाल से भेंट करके अपने घर चले आये। अन्ततः सं०१७७२ के लगभग उनका स्वर्गवास हुआ।

भूषण की रचनाएँ—

भूषण की रचनाओं का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। 'शिवसिंह-सरोज' के अनुसार उनके बनाये हुए चार ग्रन्थ— शिवराज-भूषण, भूषण-हजारा, भूषण-उल्लास और भूषण-उल्लास है; परन्तु शिवराज-भूषण के अतिरिक्त इनमे से अन्य किसी ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं लगा है। शिवा-बावनी, छत्रसाल-दर्शक तथा कुछ स्फुट कविताएँ तो समय-समय पर उनके रचे हुए छन्दों के संग्रह-मात्र है। शिवराज-भूषण ही इस समय तक उनका प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन भारतीय इतिहास के कतिपय रहस्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसमें शिवाजी, छत्रसाल, औरंगज़ेब, अफज़ल खॉ, कुमाऊॅ-नरेश, बूँदी-नरेश आदि की प्रशंसा मे छन्द है और रीतिकालीन परम्परा के अनुसार रचे गये है। इसका नाम नायक, कवि तथा विषय सभी का द्योतिक है।

(२) शिवा-बावनी—इस नाम का भूषण ने कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं बनाया था। इसमे शिवाजी की प्रशंसा मे ५२ कवित्त संगृहीत है। इनके सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि जब भूषण और शिवाजी की भेंट हुई तब भूषण ने छद्मवेशी शिवाजी को ५२ भिन्न कवित्त सुनाये थे। वही ५२ कवित्त शिवा-बावनी में दिये गये हैं। परन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने भूषण-विषयक उत्तम-उत्तम छन्द चुनकर इस नाम से उनको पुस्तक रूप में पृथक् प्रकाशित करा दिया होगा। जो भी हो, इसमे सन्देह नहीं कि

इन छन्दों में काफी ओज है। अलंकारों के बंधनों के कारण शिवराज-भूषण में कवि को जो सफलता नहीं मिली वह उसे इन छन्दों में प्राप्त हो गई है। इनमें वीर, रौद्र तथा भयानक रस के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हैं। इन छन्दों का विषय है शिवाजी की सेना का प्रयाण, उसका बैरियों और उनकी स्त्रियों पर आतंक, शिवाजी का पराक्रम, शिवाजी का हिन्दुओं की रक्षा में प्रयत्न। भूषण की प्रतिभा इन छन्दों में खूब खिली है।

(३) छत्रसाल-दशक—यह ग्रन्थ भी संग्रह-मात्र है। इसमें छत्रसाल की प्रशंसा में दस छन्द हैं। इनमे क्रम नहीं है। समय-समय पर इनकी रचना हुई है। इतिहास की दृष्टि से इन छन्दों का अधिक महत्त्व है।

भूषण का समय—

भूषण का समय भूषण की रचनाओं से ही स्पष्ट है। उससे हमें ज्ञात होता है कि उनका समय भारत की हिन्दू जनता के लिए परीक्षा का समय था। राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से यद्यपि यह हिन्दू जाति का पतन-काल था, तथापि इस पतन-काल में भी उसमें निर्माण का शिलान्यास हो रहा था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदार नीति का परित्याग कर औरंगज़ेब ने जिस उद्देश्य से हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू संस्कृति पर प्रहार किया वह उसके प्रतिकूल ही सिद्ध हुआ। हिन्दू जनता में विद्रोह और क्रान्ति की ज्वाला पुनः प्रज्वलित हो उठो और क्यों न उठती। उनके अकारण प्राण लिये जा रहे थे, उनकी माँ-बेटियों की लाज पर आघात हो रहे थे, उनके धार्मिक विश्वासों

को ठेस पहुँचाई जा रही थी, उन्हें धर्म-परिवर्तन के लिए विवश किया जा रहा था। एक ओर निरंकुश औरंगज़ेब की चमचमाती तलवार होती थी और दूसरी ओर मूक हिन्दू जनता। एक ओर राजधर्म के आकर्षक प्रलोभन थे और दूसरी ओर हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास। इन प्रलोभनों में पड़कर, धार्मिक परिवर्तन की आँधी में फँस कर, अपनी प्राण-रक्षा के लिए हिन्दू जाति के कुछ लोगों ने अपना धर्म त्याग दिया था, परन्तु एक बड़ी संख्या ऐसी भी थी जिसने उस अत्याचार और अनाचार की ज्वाला में भी अपनी जाति की, अपने धर्म की, अपनी माँ-बेटियों की रक्षा और अपनी वीरता और साहस से हिन्दू जाति की शुष्क नसों में रक्त प्रवाहित कर दिया। चेतनाशून्य हिन्दू जाति एक बार फिर इस वीरता से संघर्ष लेने के लिए खड़ी हो गई। पंजाब में सिक्खों ने अँगड़ाई ली, बुन्देलखण्ड मे महाराज छत्रसाल ने करवट बदली और दक्षिण भारत में वीरकेसरी शिवाजी ने समर्थ-गुरु रामदास की शिक्षा के आलोक में गौ, ब्राह्मण और हिन्दुओं की रक्षा के लिए तलवार उठाई। इस प्रकार उस विषम परिस्थिति में, धर्म के उस घात-प्रतिघात में, राजनीतिक सत्ता के उस कोलाहल में हिन्दू विश्वास के अनुसार स्वयं ऐसे कारण उत्पन्न हो गये जिसने हिन्दुओं की तत्कालीन बिखरी हुई शक्ति को रण-चण्डी के इन भक्तों में केन्द्रीभूत कर दिया। इन भक्तों ने अपने नेतृत्व में हिन्दुओं को संगठित किया और उन्हें अपने धर्म पर आरूढ़ रहने के लिए प्रोत्साहित किया। भूषण त्रिपाठी ऐसे युग की देन थे। उसी युग ने उनके हृदय में हिन्दू जाति के प्रति

प्रेम उत्पन्न किया, उसी युग ने उन्हें साहस और बल दिया, उसी युग ने उन्हे वाणी दी और उसमे वीर रस का सञ्चार किया। इस प्रकार उनकी वीर-रसपूर्ण वाणी शिवाजी और छत्रसाल का आश्रय पाकर सहस्रमुख से मुखरित हुई और हिन्दू जाति को अमर बनाकर स्वयं अमर हो गई।

भूषण का साहित्यिक काल भी दूषित ही था। चारणों के युग का अन्त हो चुका था, भक्ति-काल की परम्पराएँ समाप्त हो चुकी थीं, राम और कृष्ण के गुणानुवाद के स्थान पर राजाओं महाराजाओं के दरबार मे कहीं उनके शौर्य और कहीं नायक और नायिकाओं के प्रेमालिङ्गन की चर्चा हो रही थी। वह शृङ्गार का ही युग था। राजपूत-काल की वह वीरता नष्ट हो चुकी थी। हिन्दू नरेशों की तलवारें मन्द पड़ गई थीं। उनमें मोर्चा लग गया। राजपूताना की बड़ी-बड़ी रियासतें मुग़ल-साम्राज्य में सम्मिलित हो अपना मस्तिष्क बेच चुकी थी और विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत कर रही थीं। ऐसी रियासतों मे चाटुकारों की कमी नही होती थी। इन चाटुकारों मे कवियों का प्रमुख स्थान होता था। वे दरबारी कवि कहलाते थे। उनका काम था—राजा की झूठी प्रशंसा करना, शृंगारी रचनाएँ सुनाना, शब्दों की कलाबाजी दिखाना और अपना पेट भरना। ऐसे राजकवियों की संख्या भी अधिक थी। उन्हींके अपवित्र हाथों मे उस समय का साहित्य था। वही अपने युग के साहित्य के महारथी थे। कविता-कामिनी को अपनी इच्छानुसार अलंकृत करना और फिर उसे किसी दरबार में नचाना

यही उनके साहित्य का प्रधान उद्देश्य होता था। साहित्य के ऐसे पतित युग को ऊँचा उठाने के लिए, भारत की निराश जनता के उत्सुक हृदय में वाणी द्वारा पवित्र राष्ट्रीय भावनाएँ भरने के लिए आवश्यकता थी—एक सत्साहित्यिक नेता की। पराजित जनता की इस आकांक्षा को, तात्कालिक साहित्य-चेतना की इस माँग को भूषण ने भारत-वसुन्धरा पर अवतीर्ण होकर पूरा किया। उन्होंने शृंगार और अलंकारप्रिय कविता-कामिनी को विलासी राजदरबारों से निकाला और उसे रण-चण्डी के वेष में लाकर जनता के समक्ष खड़ा कर दिया। इस प्रकार उस काल में ईश्वर की अनन्त शक्ति दो रूपों में हिन्दू जाति की रक्षा के लिए अवतरित हुई। उस शक्ति का पहला रूप था—वीर-शिरोमणि शिवाजी और दूसरा रूप था—अमर कलाकार भूषण। एक ने तलवार का आश्रय लिया, दूसरे ने वाणी का। और देखते-देखते दोनों ने समस्त भारत को एक छोर से दूसरे छोर तक आश्चर्यचकित कर दिया। यवन काँप उठे, औरङ्गज़ेब की तलवार मन्द पड़ गई, अत्याचारों की आँधी का अन्त हो गया। जो तूफ़ान तेज़ी से उठा था वह तेज़ी से शान्त भी हो गया।

भूषण की कविता—

हम यहाँ बता चुके हैं कि भूषण अपने समय की देन थे। इसलिए हमें उनकी रचनाओं में समय की पुकार मिलती है। अपनी रचनाओं में वह देश-दशा का चित्रण करते हैं, मुगलों की उच्छृङ्खलता, अनाचार तथा उद्दण्डता का हृदय-

विदारक वर्णन करते हैं; शिवाजी, छत्रसाल, बूँदी-नरेश, तथा अन्य कतिपय नरेशों की प्रशंसा करते हैं। इन ऐतिहासिक घटनाचक्रों और अनाचारों से आगे उनकी आँखें नहीं उठतीं। वे गड़ गई है ऐसे स्थान पर जहाँ हिन्दू राष्ट्र का कल्याण निहित है, जहाँ उसके जीवन-मरण का प्रश्न हल हो रहा है, जहाँ उसकी माँ-बेटियों की लाज अटकी हुई है। भूषण की चेतना-शक्ति को, भूषण की प्रखर प्रतिभा को उस स्थान से हटने का जी नहीं चाहता। यही तो कवि की तन्मयता का कारण होता है। इसी तन्मयता में डूब कर ही तो वह राष्ट्र के हृदय को आन्दोलित करनेवाले रत्न बीन-बीन कर लाता है। भूषण तन्मय थे अपने युग की माँग को पूरा करने मे। उनकी निगाह शृङ्गार की ओर नहीं गई। उनका विद्रोही हृदय उसे स्वीकार नहीं कर सका। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने कविता की तत्कालीन धारा के प्रवाह को दूसरी ओर मोड़ दिया। उनकी रचना की यह अद्भुत शक्ति है।

भूषण हिन्दी साहित्य के प्रथम राष्ट्रकवि थे। उस साम्प्रदायिक युग मे जब राष्ट्र का वर्तमान रूप नहीं था तब हिन्दू जाति के लिए भूषण की रचनाओं का राष्ट्रीय महत्त्व ही था। वह तत्कालीन भारत के होमर थे। उनके शब्दों में अपार शक्ति और उनकी वाणी में ज्वाला थी। वह हिन्दू जाति की आकांक्षाओं तथा अभिलाषाओं के जागरूक चित्रकार थे। नायक के रूप में शिवाजी तथा छत्रसाल बुन्देला को उन्होंने स्वीकार करके अपनी रचनाओं में वस्तुतः हिन्दू जनता की भावनाओं को

ओजमयी भाषा में चित्रित किया है। भूषण में जातीय भावना प्रधान है। उनकी इस जातीय भावना को आश्रय मिलता है शिवाजी के व्यक्तित्व में। इसीलिए शिवाजी उनकी दृष्टि में महान् हैं। उनके लिए शिवाजी का वही महत्त्व है जो सन्त तुलसीदास के लिए राम का, सूर के लिए कृष्ण का। औरङ्गजेब को भूषण इसीलिए नीचा दिखाते हैं कि वह हिन्दू जाति का शत्रु है, हिन्दू संस्कृति का बैरी है। भूषण की दृष्टि में वह राम के प्रतिनायक रावण से किसी बात में कम नहीं है। औरङ्गजेब हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति के लिए उस समय का रावण और कंस है। उसकी पराजय अवश्यंभावी है। अपनी इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर भूषण ने नायक तथा प्रतिनायक के चित्रण में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति से भी काम लिया है। परन्तु वह अतिशयोक्ति ऐसी है जो हमारे मन और मस्तिष्क को नायक के प्रताप और यश से प्रभावित कर देती है। हम उस पर हँसते नहीं, उस पर आश्चर्य करते हैं, गर्व से फूल जाते हैं, रोमाञ्चित हो जाते हैं। उसे पढ़कर हमारी रग-रग फड़क उठती है, हमारी सुषुप्त भावनाएँ जाग उठती हैं। हो सकता है किसी की दृष्टि मे उनकी कविता पोच, अराष्ट्रीय, द्वेष और घृणा से परिपूर्ण हो, परन्तु जो उस समय के वातावरण में पैठ कर हिन्दू जनता पर किये गये अत्याचारों को भूषण की आँखों और भूषण के हृदय से देखने की जितनी ही अधिक चेष्टा करेंगे, वे उतना ही अधिक भूषण की रचनाओं के महत्त्व को स्पष्ट रूप से समझने में समर्थ हो सकेंगे। वह यह समझेंगे

कि कवि या साहित्यकार होकर यदि भूषण अपने युग के हिन्दुओं की उस भावना का प्रतिनिधित्व न करते तो वह अपने युग, अपने साहित्य, अपने इतिहास और अपनी कवित्व-शक्ति के प्रति अन्याय करते। इस प्रकार का अन्याय उस समय के बहुत से कवियों ने अपने प्रति किया है। उन्होंने अपनी आत्मा का हनन करके, अपनी कवित्व-शक्ति को कामी और विलासी राजाओं की प्रसन्नता का साधन बना कर अपयश ही प्राप्त किया है। वर्तमान राष्ट्रीय भावना मे विश्वास करनेवाले भी उन्हे उपेक्षा की ही दृष्टि से देखते हैं। भूषण ऐसी उपेक्षा के पात्र नहीं है। युग के कवियों मे उनका सिर सबसे ऊँचा है। उनके व्यक्तित्व के आगे कोई टिक नहीं सकता। अपने समय के वे बेजोड़ कवि है।

भूषण किसी मत अथवा सम्प्रदाय के प्रति द्वेष नहीं रखते। उन्होंने अपनी रचना में एक भी ऐसे पद को स्थान नहीं दिया है जिससे उनकी संकीर्ण धार्मिक भावना व्यक्त होती हो। सब धर्मो पर उनकी दृष्टि समान है, परन्तु अपने धर्म से, अपनी जाति से उन्हे विशेष ममता है। इसीलिए वे उसका कल्याण चाहते है, उसके उद्धार के लिए वे सतत प्रयत्नशील हैं। वे उसकी फूट की ओर सबसे पहिले अपने साहित्य में संकेत करते है। वे कहते है 'आपस की फूट ही ते सारे हिन्दुआन टूटे।' कितनी सत्य आलोचना है यह अपने समाज की। हिन्दी-साहित्य के आदियुग मे भूषण

तक किसी कवि ने भी हिन्दू जाति के ह्रास का इस रूप में अनुभव नहीं किया।

भूषण की रचनाओं मे एक बात और है, उनकी रचनाओं मे हमे ऐतिहासिक सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। उनमे तिथि और संवत् के अनुसार घटनाओं का क्रम नहीं है, तथापि तत्कालीन कतिपय नरेशों के सम्बन्ध मे मुख्य-मुख्य घटनाओं का उसमें उल्लेख अवश्य है। इन घटनाओं के वर्णन में उनकी सत्यप्रियता प्रशंसनीय है। उन्होंने उनमे किसी प्रकार की तोड़-मरोड़ नहीं की और न अपने पास से उसमे कुछ सम्मिलित ही किया है।

भूषण मौलिक साहित्यकार है। रीति-काल की परम्पराओं से मुक्त होकर उन्होंने अपने ढंग से कविता-कामिनी की सेवा की है। उनकी भावव्यंजना सरल और सुबोध है। मौलिकता के कारण ही उन्होंने शृङ्गार-प्रणाली का परित्याग करके नये रसों और नई प्रणालियों को अपनाया है। उनकी अलंकार-योजना भी मौलिक है। उनकी कविता मे न तो पुरानी ही युक्तियों का पिष्टपेषण है और न नवीन युक्तियों की भरमार ही। अपनी मौलिकता में वे प्राचीन और नवीन दोनों एक साथ है। शब्दों का इन्द्रजाल उनकी रचनाओं का लक्ष्य नहीं है। उनकी कविता मरी हुई जाति के जीवन के लिए है।

भूषण की अलंकार और रस योजना—

भूषण रीतिकालीन कवि थे। इस काल के कवियों ने काव्य

कला को अपनी रचनाओं में विशेष महत्त्व दिया और शेष सब बातों की उपेक्षा की। उन्होंने अपने मुक्तक छन्दों में प्रत्येक अलंकार, प्रत्येक नायिका, और प्रत्येक ऋतु का वर्णन किया। संस्कृत-साहित्य के कवि और आचार्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। कवि अपने काव्य की रचना करते थे और आचार्य काव्य के कला-पक्ष का निरूपण करते थे। परन्तु हिन्दी-साहित्य के तत्कालीन कवियों ने एक ही साथ कवि और आचार्य दोनों का एक साथ काम किया। जो कवि था, वह आचार्य भी था। भूषण मौलिक होने पर भी इस दोष से न बच सके। वह भी कवि और आचार्य दोनों थे। कवि की हैसियत से उन्होंने तत्कालीन परम्पराओं—नखशिख वर्णन और ऋतु-वर्णन—को अपनी रचनाओं का आधार न मानकर जातीयता को अपनी काव्य-प्रेरणा का आधार बनाया, परन्तु उसकी शैली वही रही जो रीतिकालीन कवियों की थी। उनके काव्य का शरीर वही था, परन्तु उसकी आत्मा भिन्न थी।

शिवराजभूषण भूषण का अलंकार-ग्रन्थ है। इसकी रचना संस्कृत के रीति-ग्रन्थों के आधार पर की गई है। उनके अलंकार के लक्षणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होंने संस्कृत के कई रीति-ग्रन्थों का अध्ययन किया था और उसके बाद अपनी रुचि के अनुसार अलंकारों के क्रम, संख्या और लक्षण पर विचार किया था। उन्होंने अलंकारों के लक्षण दोहों में दिये हैं और उनके उदाहरण के लिए सवैया और कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग किया है। इससे अधिक उनके इस अलंकार-ग्रन्थ में

और कुछ नहीं है। उनका लक्ष्य है अपने नायक का चरित्र-चित्रण। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने तत्कालीन शैली का सहारा लिया है। इसीलिए उनके उदाहरणों में आरंभ से अन्त तक एक ही नायक और एक ही लक्ष्य की ओर संकेत है। अन्य रीति-ग्रन्थकारों की भाँति उनके लक्ष्य में विभिन्नता नहीं, समता है। इस दृष्टि से उनके रीति-ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है।

भूषण के कतिपय अलंकारों के लक्षण अपर्याप्त, अधूरे और संदिग्ध हैं और उनके उदाहरण भी लक्षणों के अनुसार ठीक नहीं हैं। अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से देखने पर उनकी अलंकार-योजना में और भी दोष मिल सकते हैं। परन्तु उनके ये दोष क्षम्य हैं। बात यह है कि केशव, देव, मतिराम और बिहारी की भाँति नायिका के नखशिख से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके विषय अनेक हैं, उनकी कल्पनाओं की उड़ान के लिए अनेक क्षेत्र हैं। भूषण उन क्षेत्रों के कवि नहीं हैं। भूषण का क्षेत्र उनकी अपेक्षा संकुचित और सीमित है। इसी-लिए उनकी अलंकार-योजना में दोष है। हमें उनकी अलंकार-योजना पर रीतिकालीन ग्रन्थों के अनुसार विचार नहीं करना चाहिए; हमें तो केवल यही देखना चाहिए कि अपने उद्देश्य में कृतकार्य होने के लिए उन्होंने अपनी अलंकार-योजना मे जिन अलंकारों का निरूपण किया है उसमें उन्हें कहाँ तक सफलता मिली है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि उनके शब्दालंकारों और अर्थालंकारों में प्रयत्न की मात्रा कम और स्वाभाविकता अधिक है। उनके अलंकार हमें खटकते नहीं।

उनकी रचनाओं में भावों की इतनी तीव्रता है कि वे हमें अलंकार-योजना पर विचार करने का अवसर ही नहीं देते। उनके वीरोचित छन्द पढ़ने से हमारी आत्मा उनकी आत्मा से इतनी घुल-मिल जाती है कि हमारा ध्यान अलंकारों पर जाता ही नहीं। फिर भी भूषण के छन्दों मे सानुप्रासता तो सर्वत्र ही है। उनमें स्थान-स्थान पर यमक और लाटानुप्रास का भी मनोहर विधान है। देखिए :—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,
ऊंचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती है।
कन्द मूल भोग करै, कन्द मूल भोग करै,
तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती है।
भूषन सिथिल अंग, भूषन सिथिल अंग,
बिजन डुलाती ते वै बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जडाती ते वै नगन जडाती है।

इसी प्रकार भूषण के अर्थालंकार भी स्वाभाविक है। व्याजस्तुति, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों को उन्होंने अपनी रचनाओं मे अच्छा स्थान दिया है। सारांश यह कि भूषण सफल रीतिग्रन्थकार न होकर भी अपनी निर्बन्ध रचनाओं में अलंकारों का विधान बड़ी सुन्दरता से करते हैं। उनकी रचनाओं में अलंकारों का पिष्टपेषण नहीं, वरन् उनकी स्वाभाविक छटा है। उनकी कल्पनाएँ सरल, मौलिक और नवीन है।

भूषण की रस-योजना—

भूषण की रचनाओं मे भयानक, वीभत्स, रौद्र और वीर रस की स्थापना है, परन्तु इन रसों में वीर रस की ही प्रधानता है। वीर रस का स्थायी भाव है—उत्साह। शत्रु का उत्कर्ष, उसकी ललकार, दोनों की दशा, धर्म की दुर्दशा आदि को देखकर जब किसी व्यक्ति के मन मे उसका सर्वनाश करने के लिए उत्साह उत्पन्न होता है तब वही उत्साह वीर रस को जन्म देता है। भूषण का उत्साह इसी प्रकार का उत्साह है। उनके नायक है—छत्रपति शिवाजी और वीर छत्रसाल। शिवाजी को उन्होंने युद्ध, दया, दान और धर्मवीर के रूप मे चित्रित किया है। देखिए—

[धर्मवीर]

वेद राखे विदित पुरान राखे सार युत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मै।
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मे जनेऊ राख्यो, माला राखी गर मै।
मीडि राखे मुगल मरोडि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर मै।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं॥

[दानवीर]

साहि-तनै सरजा की कीरति सो चारो ओर,
चाँदनी बितान छिति छोर छाइयतु है।

भूषण भनत ऐसो भूप भौंसिला हैं,
जाके द्वार भिच्छुक सदाई भाइयतु हैं।
महा दानि सिवाजी खुमान था जहान पर,
दान के प्रमान जाके यों गनाइयतु है।
रजत की हौंस किये हेम पाइयतु जासों,
हयन की हौंस किये हाथी पाइयतु है॥

[दयावीर]

जाहि पास जात सो तौ राखि न सकत याते,
तेरे पास अचल सुप्रीति नाधियतु है।
भूषण भनत सिवराज तव कित्ति सम,
और की न कित्ति कहिबे को काँधियतु है।
इन्द्र को अनुज तैं उपेन्द्र अवतार यातें,
तेरो बाहु बल लै सलाह साधियतु है।
पायतर आय नित निडर बसायबे को,
कोटि बाँधियतु मानो पग बाँधियतु है॥

[युद्ध-वीर]

कोटि गढ़ ढाहियतु एकै पातसाहन के,
एकै पातसाहन के देश दाहियतु है।
भूषण भनत महाराज सिवराज एकै,
साहन की फौज पर खग्ग वाहियतु है।
क्यों न होंहि बैरिन की बैरि-बधू बैरी सुनि,
दौरनि तिहारे कहौ क्यों निबाहियतु है।

रावरे नगारे सुनि बैर वारे नगरन,
नैन वारे नदन निवारे चाहियतु है।

रौद्र और भयानक रस वीर रस के सहकारी होते हैं। इनमें से भयानक रस का परिपाक भूषण की रचनाओं में बहुत ही सुन्दर हुआ है। शिवाजी के प्रताप से भयभीत शत्रुओं और उनकी स्त्रियों का चित्र उतारने मे भूषण को अभूतपूर्व सफलता मिली है। रौद्र रस के भी कई पद बहुत सुन्दर हैं। इन रसों के साथ वीभत्स रस का समावेश उनकी रचनाओ मे हुआ है। इस रस के निरूपण मे उनकी कल्पना संयत और वीरता के आवेश से दबी-सी रहती है।

भूषण ने शृंगार पर भी अपनी लेखनी उठाई है। उनके फुटकर पदों मे हमे इस रस का परिपाक भी मिलता है और उसमे भी उन्हे विशेष सफलता मिली है। इससे ज्ञात होता है कि भूषण के हृदय में शृङ्गार रस के लिए भी स्थान था, परन्तु उन्होंने उसका समर्थन नही किया। वे अपनी परिस्थितियों से विवश थे। उनके हृदय में जो तड़प थी, जो वेदना थी उसका वर्णन शृङ्गार रस मे नहीं हो सकता था। इसलिए उन्होंने इस रस की उपेक्षा की परन्तु जीवन की कोमल घड़ियों में वे इस रस का भी आनन्द लेते थे। शान्त, अद्भुत, करुण तथा हास्य रस के पद भी उनकी रचनाओं मे हमे मिलते हैं।

भूषण की शैली—

भूषण की शैली वीरोचित शैली है। उनकी रचनाओं में

नागरिक तथा प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण नही है। उनके वर्ण्य-विषय है—युद्ध, शिवाजी का प्रताप, शिवाजी की दानशीलता, शिवाजी का आतंक, शत्रु-स्त्रियों की दुर्दशा। इन्हीं विषयों के चित्रण मे उनकी शैली का प्रादुर्भाव हुआ है। उन्होंने इन विषयों के निरूपण मे मनहरण, छप्पय, रोला, उल्लाला, दोहा, हरिगीतिका, मालती, सवैया, किरीट, माधवी, लीलावती, अमृतध्वनि तथा गीतिका आदि छन्दों का प्रयोग किया है।

युद्ध-वर्णन मे भूषण ने कुछ स्थलों पर वीर-गाथा-काल की परम्परा के अनुसार अमृतध्वनि छन्द और कुछ स्थलों पर मनहरण कवित्त का प्रयोग किया है। लोमहर्षक युद्ध की भयंकरता दिखाने के लिए अमृतध्वनि छन्द अधिक उपयुक्त होता है, पर जहाँ साधारण आक्रमण आदि का वर्णन करना अभीष्ट होता है वहाँ अन्य छन्दों से भी काम लिया जा सकता है। भूषण ने अपने विषय के अनुसार ही अपने छन्दों की योजना की है।

नायक-यश-वर्णन की दृष्टि से भूषण की रचनाएँ बेजोड़ हैं। केवल यश-वर्णन के लिए भूषण से पहले किसी कवि ने इतना बड़ा ग्रन्थ नहीं लिखा है। इसलिए उनके यशोगान मे कोई न कोई विचित्रता, कोई न कोई अनूठापन अवश्य होना चाहिए। भूषण के नायक और प्रतिनायक ज्वलंत हैं। उनके नायक शिवाजी धीरोदात्त श्रेणी के नायक है। वे भूषण के लिए अवतारी पुरुष हैं। उनका प्रतिनायक है औरंगज़ेब, हिन्दू

संस्कृति का वैरी। दोनों के चरित्र-चित्रण मे ही भूषण की यश-वर्णन-शैली का रहस्य छिपा हुआ है। इस रहस्य का उद्‌घाटन तब होता है जब हम यह देखते है कि भूषण ने अपने नायक के यश-वर्णन मे उनके कार्य की गुरुता को ध्यान मे रखते हुए भी प्रतिनायक को साधारण रूप में देखने की चेष्टा नही की है। उन्होंने नायक के उत्कर्ष के साथ ही प्रतिनायक के उत्कर्ष को सावधानी से चित्रित किया है। इस प्रकार के चित्रण में उनकी शैली का बल देखने योग्य है। यदि वे अपने प्रतिनायक को साधारण व्यक्ति के रूप में चित्रित करते तो न तो नायक के चरित्र का मनोवांछित विकास होता और न शैली में बल आता। तुलसी का रावण जिस प्रकार विद्वान्, बली और कूटनीतिज्ञ है उसी प्रकार भूषण का प्रतिनायक भयंकर है। ऐसे भयंकर व्यक्ति से लोहा लेनेवाला राम की भाँति शक्ति-सम्पन्न और महायोद्धा होना चाहिए। ऐसा होने पर ही नायक के चरित्र का विकास होता है। भूषण इस रहस्य से परिचित है। और इसीलिए उन्हे अपने यश-वर्णन मे अभूतपूर्व सफलता मिली है।

भूषण के दान-वर्णन की शैली भी स्वाभाविक है। पद्माकर आदि रीतिकालीन कवियों की भाँति उनके दान-वर्णन मं अतिरंजना नहीं, सत्य है। शिवाजी बड़े दानी थे। भूषण को उनकी दानशीलता का व्यक्तिगत अनुभव था। इतिहासकारों ने भी उनके दान की प्रशंसा की है। ऐसी दशा मे भूषण ने उनके दान-वर्णन की शैली मे अतिशयोक्ति अथवा उच्छृङ्खलता

से काम नहीं लिया है। उनकी शैली उदात्त पर गंभीर है।

आतंक-वर्णन में उनकी काव्य-प्रतिभा अधिक प्रस्फुटित हुई है। उनका आतंक-वर्णन अत्यन्त ओजस्वी, प्रभावोत्पादक और सजीव है। इस प्रकार के वर्णन मे कवि का लक्ष्य वाणी-विलास या अर्थ-प्राप्ति नहीं वरन् शत्रुओं पर नायक की धाक जमाना और विपक्षियों को भयभीत करना है। कवि को अपना यह उद्देश्य चरितार्थ करने में बड़ी भारी सफलता मिली है। इसका कारण कवि की कोरी कल्पना नहीं, वरन् उसका निजी ज्ञान है। उसने अपनी आँखों से शिवाजी के आतंक का विपक्षियों पर प्रभाव देखा है। भूषण की रचनाओं मे कोरी कल्पनाएँ कम है। उन्होंने कल्पनाओं की ऊँची उड़ान से अपनी कविता को अतिरंजित नहीं किया है। इसलिए उनके आतंक-वर्णन मे अतिरंजना कम, यथार्थ अधिक है। जहाँ उन्होंने आतंक से भयभीत शत्रु की नारियों की दुर्दशा का चित्रण किया है वहाँ उनका उद्देश्य केवल नायक के आतंक का प्रभाव दिखाना है। भूषण ने प्राचीन परम्परा के अनुसार ही इस शैली का अनुसरण किया है और वह काव्योचित है। इस प्रकार के वर्णन से शैली बलवती होती है और कवि के उद्देश्य को चरितार्थ करने मे सफल। इसलिए भूषण को हम इसके लिए दोषी नहीं ठहरा सकते।

भूषण की शैली के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से उसकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—प्रभावोत्पादकता, चित्रोपमता और सरलता। भूषण की शैली पाठक को आकर्षित करती है,

अपने सहज प्रभाव से और उसकी आँखों के सामने वर्णित विषय का इतना सुन्दर चित्र खींच देती है कि वह देखता रह जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि भूषण ने जिस विषय पर अपनी लेखनी उठाई है उसका अन्त तक बड़ी सफलता-पूर्वक निर्वाह किया है।

भूषण की भाषा—

भूषण की भाषा व्रजभाषा है । पर वह वीर कवि के हाथों में पड़कर अपनी सहज कोमलता और माधुर्य खो बैठी है। इसलिए भूषण की रचनाओं में हम उसका ओजमय और उद्दण्ड रूप देखते हैं। भाषा का यही रूप वीर रस के अनुकूल होता है। उसमें युद्ध का कोलाहल रहता है, वीरों का दर्प रहता है, बादलों की कड़क रहती है, तलवारों की खड़क रहती है, तोपों का भयानक शब्द रहता है। भूषण की भाषा कुछ इसी प्रकार की है। उसे मुख से कहते ही हमारी रगें फड़क उठती हैं। विपक्षी का हृदय आतंक से भर जाता है।

भूषण की भाषा शुद्ध व्रजभाषा नहीं है । उसमें विदेशी शब्दों की बहुलता है। अपनी आवश्यकतानुसार उन्होंने मुसलमान पात्रों के संसर्ग मे, उनके कथोपकथन में, उनके व्याव-हारिक जीवन के चित्रण मे, तथा उनकी रीति-नीति की अभि-व्यंजना मे अरबी तथा फारसी के शब्दों का खुल कर प्रयोग किया है। इन भाषाओं के कुछ शब्द तो अपने तत्सम रूप मे आये है और तोड़-मरोड़ के पश्चात्। कई स्थलों पर तो उन्होंने शब्दों का ऐसा मनमाना रूप कर दिया है कि वास्तविक शब्द

का पता लगाना ही कठिन हो जाता है। पादशाह, तसबीह, हज़ार, हासिल, रोज़ा, नमाज़, फौज, गुसुलखाना, अवरंग, कलकान, पिसानी आदि शब्दों से इस कथन की पुष्टि होती है। विदेशी शब्दों से भूषण ने हिन्दी व्याकरण के अनुसार क्रिया-पद भी बनाये है। विदेशी शब्दों के अतिरिक्त उन्होंने अपनी शब्द-योजना मे बैसवाड़ी शब्दों को भी स्थान दिया है और कहीं-कहीं क्रियाएँ संस्कृत के मूल रूप से ली गई है। इसी प्रकार अवधी, तद्भव तथा ठेठ शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। अप-भ्रंश और प्राकृतिक शब्दों के प्रयोग से उनकी कुछ रचनाएँ क्लिष्ट भी हो गई है। इस प्रकार उनकी भाषा साहित्यिक दृष्टि से शुद्ध नहीं है। वह एक प्रकार की खिचड़ी है। इसका एक कारण है और यह कि उन्होंने महाराष्ट्र के सैनिकों के उपयुक्त अपनी भाषा को बनाने की चेष्टा की है। महाराष्ट्र मे जो शब्द जिस रूप मे व्यवहृत होता था उसको उन्होंने अपनी रचनाओं मे उसी प्रकार रख दिया है। हमारे कानों को उनकी शब्द-योजना इसलिए खटकती है कि हम उसके अभ्यस्त नही है।

भूषण ने अपनी रचनाओं में यथास्थान लोकोक्तियों और मुहावरों को भी उचित स्थान दिया है। 'तारे लागे फिरन सितारे गढ़धर के, तारे सम तारे मूँदि गये तुरकन के' आदि अच्छे मुहावरे हैं। इसी प्रकार उनकी लोकोक्तियाँ—'सौ सौ चूहे खाय कै बिलारी बैठी जप के, काल्हि के जोगी कलींदे को खप्पर'—अत्यन्त चुटीली और सार्थक है। इन बातों पर विचार करते हुए हम यह कह सकते है कि उनकी भाषा खिचड़ी होने पर भी

ओजपूर्ण, चुटीली, और प्रभावोत्पादक है।

भूषण का साहित्य मे स्थान—

भूषण का हिन्दी-साहित्य मे बहुत ऊँचा स्थान है। उनके अतिरिक्त उनके समकालीन तथा अन्य कवियों ने वीर रस में अपने काव्य की रचना की है, परन्तु उनकी भाषा मे न तो उतना ओज है और न उतना उत्कर्ष जितना भूषण की रचनाओं मे है। इसलिए भूपण की समता उनसे नहीं हो सकती। इसी प्रकार उस समय के शृङ्गारी कवि भी उनकी समता नहीं कर सकते। राजाश्रित होने के कारण उनकी रचनाओं मे इतनी कामुकता, इतनी विलासिता, इतनी उछल-कूद है कि वह जग-जीवन के कल्याण का साहित्य न होकर व्यक्तिगत मनोरंजन का साधन-मात्र है। उनमे न तो जातीयता की चेतना है और न भावनाओं की उच्चता। वीरगाथा-काल के द्वितीय उत्थान मे लाल और सूदन आदि कवियों ने वीर रस मे जो रचनाएँ की है वे जातीयता से प्रायः शून्य हैं। ऐसी दशा मे केवल भूषण ही अपनी जातीय भावनाओं को काव्य-क्षेत्र में सफलतापूर्वक स्थान दे सके है। वे सबसे पहले कवि हैं जो हिन्दी मे हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता के रक्षक के रूप मे हमारे सामने आते हैं और हमें उस समय के सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण से परिचित कराते हैं। वे अपनी रचनाओं से हमारी भावनाओं को जागृत करते है और उनका सफलतापूर्वक नेतृत्व करते है। हमे उनकी रचनाओं मे ऐतिहासिकता अपने शुद्ध

रूप में मिलती है। उन्होंने अपनी रचनाओं मे शिवाजी के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं का जितनी सुन्दरता एवं सचाई के साथ वर्णन किया है वह भावी साहित्यकारों के लिए आदर्श और गर्व की बात है। उन्होंने कहीं भी भावावेश में आकर अतिरंजना द्वारा ऐतिहासिक सत्य को विकृत करने की चेष्टा नहीं की है। उनकी रचनाओं मे इतिहास और साहित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है। रीतिकालीन कवियों की परम्परा मे साँस लेनेवाले कवि के लिए साहित्य के पुनीत क्षेत्र मे इतना सुन्दर अनुष्ठान करना उसके अद्भुत संयम और सत्य-प्रियता का यथेष्ठ प्रमाण है।

किसी कवि का साहित्य-निर्माण मे स्थान निश्चित करते समय हमे यह भी देखना चाहिए कि उसकी कितनी रचनाएँ उत्कृष्ट है। इस दृष्टि से भूषण की समस्त रचनाओं पर विचार करने पर हमे ज्ञात होता है कि उनकी उत्कृष्ट रचनाओं का मध्यम मान अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा अधिक है। उनकी समस्त रचना सार्थक और उद्देश्यपूर्ण है। उनका प्रत्येक पद उनकी कवित्व-शक्ति और काव्यप्रतिभा का प्रमाण है। उनके प्रत्येक पद मे मौलिकता है, ओज है और तड़प है। उन्होंने जनता की तड़प में अपनी तड़प को, और अपनी तड़प में जनता की तड़प को इस प्रकार घुला-मिला दिया है कि वे तत्कालीन हिन्दू समाज की भावना के नेतारूप में हमारे सामने आते हैं। वह मुख्यतः हिन्दू जनता के कवि है। हिन्दू

जनता उनकी ऋणी है और हमारा विश्वास है कि जब तक वह जीवित रहेगी तब तक वह इस अमर कवि का आभार स्वीकार करेगी।

बिहारीलाल

जीवनवृत्त—

कविवर बिहारीलाल का जन्म सं० १६६० में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन के संबंध मे कुछ सकेत अपने दोहों मे किये है जिनसे ज्ञात होता है कि बिहारी ब्राह्मण कुल मे हुए थे और पिता का नाम केशवराय था। उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था। यौवनावस्था मे वे अपनी ससुराल मथुरा मे रहे थे, उसके पश्चात् वे जयपुर पहुँचे। वहाँ निम्नलिखित दोहे से राजा जयसिंह को चेतावनी देकर उन्होंने दरबार मे पहुँच कर ली थी।

नहिं पराग नहि मधुर मधु नहि विकास इह काल।
अली कली ही सो विंध्यो आगे कौन हवाल॥

बिहारी की कविता मे एक विचित्र जादू है। इसीसे उन्होंने केवल ७१३ दोहे लिखकर वह ख्याति प्राप्त की जो तुलसी और सूर को छोड़ कर अन्य किसी कवि को प्राप्त न हो सकी। इनके दोहों के प्रभाव के विषय में यह प्रसिद्ध ही है—

सतसैया के दोहरा ज्यो नावक के तीर।
देखत मे छोटे लगे घाव करे गम्भीर॥

ब्रजभाषा के कवियों में इनको कितना सम्मान मिला यह निम्नलिखित किसी प्राचीन आलोचक की उक्ति से स्पष्ट हो जायगा—

ब्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि विसाल।
सबकी भूषण सतसई रची बिहारीलाल॥

पंडित पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन और राधाचरण गोस्वामी ने तो इनके काव्य की अत्यधिक स्तुति की है। राधाचरण गोस्वामी ने तो यहाँ तक कह दिया है, 'यदि सूर सूर तुलसी ससी और उड़गन केशवदास दास हैं तो बिहारी वह पीयूषवर्षी मेघ हैं जिसके आच्छादित होते ही इन सबका प्रकाश मन्द पड़ जाता है।'

इस प्रशंसा में अत्युक्ति भले ही हो परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि बिहारी के काव्य ने सहृदयों को जितना आकृष्ट किया उतना बहुत कम कवियों ने। हिन्दी की किसी पुस्तक पर (रामचरितमानस को छोड़कर) इतनी टीकाएँ नहीं लिखी गई जितनी बिहारी-सतसई पर।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि सफल मुक्तककार के लिए जो कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति वांछनीय है वह बिहारी में पूरी तौर से वर्तमान थी। बिहारी की यह विशेषता थी कि वे कल्पना के सहारे बहुत से चित्रों को एक साथ उपस्थित कर भाषा की समास-शक्ति के कारण दोहे जैसे छोटे छन्द मे उन्हे गुम्फित कर देते है। एक उदाहरण देखिए—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहन हँसै, दैन कहै, नटि जाय॥

बिहारी ने अपने काव्य में बहुत कुछ सामग्री गाथा-सप्तशती तथा आर्या-सप्तशती से ली है, परन्तु उनमें शब्द-चयन का ऐसा अद्भुत चातुर्य है जिसके कारण उनके दोहे मौलिक ही प्रतीत होते हैं।

भाषाधिकार तथा छन्द-योजना-चातुर्य के अतिरिक्त उन्होंने अलंकारों से भी अपनी कविता को अच्छी तरह सुसज्जित किया है। एक-एक दोहे में कई-कई अलंकार भरे पड़े हैं। शब्दालंकार एवं अर्थालकार दोनों ही का प्रयोग सुन्दरता से हुआ है। यमक का उदाहरण देखिए—

'तो पै वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥'

श्लेष का कितना सुन्दर प्रयोग है—

'चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥'

अर्थालंकारों मे असंगति का यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है—

'दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥'

बिहारी ने प्रकृति-चित्रण भी किया है। प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत बारहमासा और षट्ऋतु-वर्णन भी मिलता है।

बिहारी ने शृंगार रस को ही विशेष रूप से लिखा है, शृंगार में भी इनकी प्रवृत्ति विशेष रूप से संयोग-वर्णन की ओर रही है। नायिकाओं के सौंदर्य के जो सुन्दर चित्र इन्होंने

अंकित किये हैं वे बहुत कम कवियों ने। नायिका के सौन्दर्य का चित्राङ्कन कितना कठिन है।

> लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
> भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

संयोग-शृंगार के अन्तर्गत इन्होंने सब प्रकार के हाव-भाव, शृंगार-विनोद, हास-परिहास और विलास आदि का विस्तार के साथ वर्णन किया है—

जैसी सफलता इन्हे संयोग-वर्णन मे मिली है वैसी वियोग-वर्णन मे नहीं। इसका कारण अतिशयोक्ति का आधिक्य ही है। वियोगिनी की कृशता का वर्णन देखिए—

> 'इत आवति चलि जाति उत चली छ सातक हाथ।
> रहै हिंडोरे सी चढी लगी उसासनि साथ॥'

शृंगार के अतिरिक्त बिहारी ने भक्ति और नीति के भी सुन्दर दोहे लिखे हैं। भगवान् त्रिभंगीलाल को अपने आभार के बोझ से कैसे लाद दिया है—

> करौ कुवत जग कुटिलता तजौ न दीन दयाल।
> दुखी होहुगे सरल चित वसत त्रिभंगीलाल॥

नीति का भी एक उदाहरण देखिए—

> मीत न नीत गलीत यह, जो धरिये धन जोरि।
> खाये खरचे जो बचे तो जोरिये करोरि॥

इन विशेषताओं के अतिरिक्त बिहारी की अन्योक्तियाँ भी बहुत धार्मिक होती है। एक प्रसिद्ध अन्योक्ति देखिए—

'स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहंग विचारी।
बाज पराये पानि परि तू पंछीनु न मारि ॥'

इन अनेक विशेषताओं के कारण ही बिहारी का हिन्दी-साहित्य के कवियों में उच्च स्थान है।

—सम्पादक

आलोचना—

[दरवाजे पर खट-खट]

नगेन्द्र—हलो, कौन साहब है ? आइए !

कृष्णा—नमस्ते नगेन्द्र जी ! क्या सिर्फ किसी साहब को ही आने की इजाज़त है ? मै लौट जाऊँ ?

नगेन्द्र—नमस्ते ! आइए।

[दरवाजे पर खट-खट]

नगेन्द्र—आइए कामरेड चौहान, आइए मि० वत्स ! बैठिए न, आप अभी खड़े ही हैं। आपका एक दूसरे से परिचय तो है ? मिस कृष्णा एम० ए०, मेरे मित्र 'प्रगति'-सम्पादक, कामरेड चौहान—और आप मेरे सहयोगी मनोविज्ञान के प्रोफेसर श्रीवत्स !

अच्छा, एक सेकिण्ड। ज़रा इस दोहे पर निशान लगाकर रख दूँ।

मि० वत्स—हम भी तो देखे कौन-सा दोहा है ?

नगेन्द्र—अरे भाई, आजकल रीति-काल की स्टडी कर रहा हूँ। यह बिहारी-सतसई है। मुझे बिहारी का हास्य बेहद पसन्द

है। मैं समझता हूँ कि सूरदास के बाद हिन्दी में सूक्ष्म हास्य का लिखनेवाला बिहारी ही है। देखिए तो कितना बारीक मज़ाक है—

> परतिय-रोपु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि ।
> कसु करि राखी मिश्र हू, मुँह आई मुसकानि ॥

कामरेड चौहान—लाहौल विला कुव्वत, आप इस गन्दे मज़ाक पर लट्टू हैं ? कितना निकम्मा मज़ाक है ! कितना डिजेनेरेटेड। मैं सच कहता हूँ, ऐसे ही कवि हमारे समाज के पतन का कारण हैं। इन कवियों ने सत्रहवीं सदी से लेकर उन्नीसवी सदी तक पूरे दो सौ वर्षों के सामाजिक जीवन को अकर्मण्यता का पाठ पढ़ाया। इन्हीं कवियों ने, जिनमें बिहारी का स्थान सबसे पहला है, उस इतने बड़े युग की लोक-रुचि को ऐसा विकृत कर दिया, कि सारा समाज निकम्मा और बुज़दिल बन गया। लोग ज़िन्दगी का मकसद ही भूल गए। मैं तो दरअसल जल उठता हूँ, इन रीतिकाल के कवियों के नाम पर।

नगेन्द्र—ओह, मै तो घबरा गया यार ! मुझे क्या मालूम था कि तुम बेचारे बिहारी से इतना ख़ार खाये बैठे हो। हाँ, तुम लोगों के मुताबिक तो जीवन एक संघर्ष मात्र है। उसमे शुरू से आखिर तक बेतहाशा दौड़ना-ही-दौड़ना है, किसी हरे-से पेड़ की मुलायम छाँह में, संघर्ष की धूप को बचाकर घड़ी-भर आराम कर लेना तो अपराध है !

कामरेड चौहान—नहीं, आपने हमारे उद्देश्यों को बिलकुल ग़लत समझा है। हम ज़िन्दगी में संघर्ष की प्रधानता मानते हैं। इस दुनिया के ज़र्रे-ज़र्रे में विरोधी ताकतों की कशमकश मची हुई है, इनमें एक विकास की ओर है और दूसरी विनाश की ओर। एक ज़िन्दादिल इन्सान, जो अक्ल से काम लेता है और ज़िन्दगी की असलियत को पहचानता है, इस संघर्ष के महत्त्व को स्वीकार करेगा। स्वभाव से ही उसे विकास की ओर बढ़नेवाली ताकत के साथ हमदर्दी होगी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हमें ज़िन्दगी में आराम प्यारा नहीं है, या हमें उसकी रेशमी घड़ियों से प्यार नहीं है। हाँ, थोड़ा क्रम में फर्क है—हम ज़िन्दगी को एक गति मानते हैं। रास्ते के काँटों को कुचलते हुए आगे बढ़ना, बढ़ते ही चलना, ज़िन्दगी की पहली शर्त है। वक्त ज़रूरत आराम के लिए थोड़ी देर किसी के दामन की हरी छाँह में बैठना दूसरी शर्त, और वह भी इसलिए ज़रूरी है कि इस तरह का आराम फिर उठकर आगे बढ़ने की ताकत को और भी बढ़ाता है, लेकिन अगर कोई इस क्रम को उलट दे और आराम या रंगीनियों को ही ज़िन्दगी की पहली शर्त बना दे, तो क्या आप उसके दिमाग़ को सही कहेंगे? जीवन की बहती हुई धारा को बाँधकर गतिरुद्ध कर दीजिए और फिर उसकी रौसों पर बढ़िया-से-बढ़िया फूल-पौधे सजा दीजिए; लेकिन प्रवाह न होने के कारण उसमें सड़ायँद आ ही जायगी। जीवन गति का ही नाम है—गति ही उसकी बुनियादी फिलासफी है।

नगेन्द्र—मैं पूछ सकता हूँ कि आपकी बुनियादी फिलासफी में शृङ्गार का भी कोई स्थान है ?

कामरेड चौहान—क्यों नही ? लेकिन शृङ्गार के बजाय sex शब्द का प्रयोग करें, तो अच्छा होगा; क्योंकि वह ज्यादा साइन्टिफिक है। सैक्स जीवन की बहुत बड़ी ज़रूरत है—दैट्स ए क्रिएटिव निसेसिटी। उसका उपयोग विकास के लिए करना चाहिए। वह साधन है, साध्य नही। पर, आपके इन बिहारी साहब ने उसे साध्य ही बना डाला। सैक्स को ही जिन्दगी का मरकज़ मानकर बाकी सब ज़रूरतों को उसके चारों ओर घुमाना आप पसन्द करेंगे ? समय पर रस का स्वाद लेना जीवन की आवश्यकता है, लेकिन हमेशा रस में ही गोते लगाना तो मौत है। सारा पुरुषार्थ नष्ट हो जायगा। बिहारी ने अपने समकालीन समाज को प्रत्यक्ष व्यभिचार का और आनेवाली पीढ़ियों को मानसिक व्यभिचार का ऐसा सबक सिखाया, कि लोग रस के धोखे मे विष ही पीते रहे। और जनाब को देखिए—इस बीसवी सदी के तरक्की-पसन्द ज़माने मे भी आप मिसर और उनकी परकीया की बेहूदा हरकतों का मज़ा ले रहे है, मानो सत्रहवी शताब्दी में वह मिसरजी आप ही थे। [एक साथ सब हँस पडते है]

नगेन्द्र—वाह कामरेड खूब कहा, खूब कहा ! मै सचमुच तुम्हारे इस जोश की दाद देता हूं; लेकिन जैसी कि अंग्रेज़ी की एक कहावत है, तुम घोड़े के आगे गाड़ी को जोत रहे हो। वास्तव मे बिहारी या रीति-काल के किसी भी कवि को लोक-

रुचि का निर्माता कहना उसको ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व देना है। सन्त या भक्त कवियों से उसकी तुलना करना ग़लत होगा। उन्होंने जहाँ अपनी वाणी से लोक-जीवन का राज-पथ तैयार किया था, वहाँ बिहारी और उनके साथियों का काम जीवन की दौड़-धूप से थके-माँदे आदमियों के लिए एक सुरम्य उपवन का निर्माण करना था। बिहारी की कविता जनता के लिए नहीं थी। वह प्रचारक नहीं था और न उपदेशक ही। वह तो रसज्ञ था, जिसकी सूक्ष्म दृष्टि ने जीवन के झाड़-झखाड़ में से सौन्दर्य के फूलों को छाँट कर एक गुलदस्ता बना दिया। उसका कार्य तो अधिकारी पाठक के हृदय मे सौन्दर्य की भावना उद्बुद्ध कर, उसकी चेतना को सूक्ष्मतर और अधिक परिष्कृत करना था। इस प्रकार उसने जीवन मे रस पैदा करके अपने सम-कालीन समाज का उपकार किया। और आज तुम्हारे इस तरक्की-पसन्द ज़माने मे भी वह अपने पाठकों के साथ यही उपकार करता है। मुझे अफ़सोस है कि तुम साहित्य को सिर्फ़ प्राचीन की दृष्टि से ही देख और परख सकते हो—रस या आनन्द जैसे स्वयं ही एक वरदान न हो—साहित्य की सिद्धि मानो राजनीतिक या सामाजिक क्रांति किये बिना सम्भव ही न हो।—अच्छा, और प्रत्यक्ष प्रभाव की दृष्टि से देखिए, तो भी बिहारी ने अपना सामाजिक कर्त्तव्य एकदम भुला नहीं दिया था। जीवन के दो महत्त्वपूर्ण क्षणो मे उन्होने अपने आश्रय-दाता मिर्ज़ा जयसिंह को कुपथ पर जाने से रोका था और अन्त मे, बिहारी की रीति-शिक्षा की भी तो उपेक्षा नही की जा सकती।

कृष्णा—इस विद्वत्संवाद मे क्या मैं भी कुछ हिस्सा ले सकती हूँ ?

नगेन्द्र—हाँ, हाँ, क्यों नहीं, आपकी राय तो ख़ास तौर से दिलचस्प होगी; लेकिन आज यह बात क्या है ? यह मेरा काग़ज़ी कामरेड जितना लड़ने पर आमादा है, उतनी ही तुम आज तकल्लुफ़ के मूड में मालूम पड़ती हो ।

कृष्णा—जी धन्यवाद । आपने अभी कहा कि बिहारी का कार्य पाठक की सौन्दर्य-भावना को जगाकर उसकी चेतना का परिष्कार करना था । मुझे खेद है कि मै आपके मन्तव्य से सर्वथा असहमत हूँ । बिहारी ने नारी के नग्न अङ्गों को जिस गृद्ध-दृष्टि से देखा है, उसमे सूक्ष्म सौन्दर्य की पवित्र भावना नही है, मांस-लोलुपता है । उसके चित्र वासना से लथपथ है । नारी उसके लिए एक चेतन व्यक्तित्व नहीं है, वह तो सिर्फ़ एक योग्य पदार्थ है । मानो नारी का सब-कुछ सिमट कर उसके अङ्गों में ही पुञ्जीभूत हो गया हो, उसमे माता, बहन, सहचरी की चेतना पूर्णतः लुप्त हो गई हो । नारी की मर्यादा का चीर-हरण करने मे बिहारी से अधिक उत्साह शायद ही किसी कवि ने दिखाया हो ।

कामरेड चौहान—देअर यू आर ओल्ड बाय ! पन्त ने भी यही तो .... ।

नगेन्द्र—आप तो उत्तेजित हो उठीं मिस कृष्णा ! मैं फिर कहता हूँ कि इस प्रकार का नैतिक दृष्टिकोण एकांगी है । इस तरह अपना एक विशिष्ट नैतिक दृष्टिकोण लादकर आप बिहारी

या किसी भी अन्य कवि के साथ न्याय नहीं कर सकतीं। बिहारी, मैंने अभी निवेदन किया, स्वीकृत रूप में शृंगार का कवि है। जीवन में उसने धर्म, अर्थ और मोक्ष की अपेक्षा काम को ही प्रधानता दी है, अतएव स्त्री-पुरुष का मधुर आकर्षण ही उसके काव्य की मूल प्रेरणा है। स्वयं पुरुष होने के कारण स्वभावतः ही उसके लिए नारी-सौन्दर्य का आकर्षण अनिवार्य था, अतएव उसने नारी के अंगों को ज्यादा दिलचस्पी से चित्रित किया है। आप नारी हैं, इसलिए शायद आपको उन चित्रों में रस नहीं आता, परन्तु उनके सूक्ष्म सौन्दर्य का तिरस्कार करना असहृदयता है। एक नमूना लीजिए—

> गई न सिसुता की झलक झलक्यौ जोबन अंग।
> दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग॥

या फिर—

> भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
> ऐंचि छुड़ावति करु इँची, आगै आवति जाति॥

आप देखें कि इन चित्रों में सौन्दर्य की कितनी सूक्ष्म अनुभूति है, लेकिन अगर यहाँ भी आप यह ऐतराज़ कर बैठें कि कवि ने स्त्री की ही वयःसन्धि अथवा स्त्री के ही रूप-अनुभावों को क्यों अङ्कित किया है, तो इसका जवाब मैं समझता हूँ, खुदा ही दे सकता है कि उसने बिहारी को स्त्री न बनाकर पुरुष ही क्यों बनाया ?

[एक हलकी हँसी] आप कैसे चुप हैं वत्सजी ! यह तो आपका प्रिय विषय है। मदद कीजिये न मेरी।

श्रीवत्स—मुझे तो सुनने ही में ज्यादा मजा आ रहा है, नगेन्द्र जी। कामरेड का कशमकश, मिस कृष्णा की उत्तेजना और आपका यह रस के प्रति अटल आग्रह—सभी कुछ बड़ा रोचक है। अगर मेरी राय ही चाहते है, तो जहाँ तक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, मै आपसे सोलहों आने सहमत हूँ। लेकिन मेरे और आपके दृष्टिकोण यानी रस-दृष्टि से भी तो बिहारी की कविता बहुत खरी नहीं उतरती। बिहारी जितने कला-निपुण थे उतने रस-चेता नही थे। उन्होंने जितनी सुन्दर मोनाकारी और नक्काशी की है, उतनी भव्य रस-प्रतीति वे नहीं करा सके। वे ऊँचे और पेचीदे मज़मून बाँधते रहे—अलङ्कारों की क्रीड़ाएँ उनकी अद्भुत है, लेकिन उनके काव्य मे रस की धारा अत्यन्त क्षीण है। उनकी दृष्टि जितनी पैनी थी, हृदय उतना द्रवण-शील नहीं था; इसीलिए तो अनुभाव-चित्रण मे वे जितने सफल हुए है, उतने भावों की अभिव्यक्ति मे नही। और इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने स्वभावोक्ति की अपेक्षा अतिशयोक्ति को अधिक महत्त्व दिया है, जिसके प्रताप से उनके विरह-निवेदन मे भयङ्कर ऊहा और अस्वाभाविकता आ गई है—

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि, चलति लुवै उहि गाम।
बिन बूझै, बिन ही कहै, जियत बिचारी बाम॥

विरह के कारण माह के महीने में लूएँ चलती है।

आज के भौगोलिक को लू की उत्पत्ति पर एक नई खोज की सामग्री मिल जाती है।

नगेन्द्र—हे भगवान् ! क्या आज आप सभी कोई षड्यन्त्र करके आये हैं, या घर से लड़कर। अरे भाई, इस प्रकार के एकांकी मानों को बेचारे बिहारी पर क्यों थोप रहे हो। बिहारी में अगर आपको प्रत्यक्ष रसाभिव्यक्ति नहीं मिलती तो चिन्ता नहीं। बिहारी प्रेमी नहीं था—वह तो रसिक था, रसज्ञ था; अतएव उसकी कविता एकांत भावगत नही है, उसमे भाव-सौंदर्य और वस्तु-सौन्दर्य का सहज समन्वय है।

रूप रिझावनहार यह, वे नैना रिझवार !—

और यही उसकी विशेषता है। उसके विरह-वर्णन मे यदि घनानंद जैसी तीव्रता नहीं मिलती, तो इसका कारण यही है कि उसने अपने काव्य मे वैयक्तिक तत्त्व को बचाया है। और वैसे भी उसका मुख्य विषय सौंदर्य-दर्शन था, प्रेम या विरह नही। जिसकी रसिक दृष्टि शृङ्गार के मधुर अनुभावों को तुरन्त ही पकड़ लेती थी, उस कवि में आपको रस-मग्नता नही मिलती—आश्चर्य है !

नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सोंह ।
काँटे सी कसकति हियैं गडी कँटीली भौंह ॥

भला इस कंटीली भौंह की कसक को अनुभव करने वाला कवि क्या रस-मग्न होना नहीं जानता था ? बिहारी में आवेग की आँधी नहीं है, रस की हलकी मीठी फुहारे हैं। बिहारी के समय से लेकर आज तक असंख्य रसिक समुदाय इन फुहारों का मज़ा लेता चला आया और अनेक मर्मज्ञों ने इस आनन्द को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न भी किया है, लेकिन—

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत् के चतुर चितेरे कूर ॥

कामरेड चौहान—माफ कीजिए रसिक-शिरोमणि ! इस शृङ्गार-मूर्ति को रौद्र न बनाइए। आज बहुत दिनों बाद ज़रा यों ही आपको एक्साइट करता था। अच्छा अब चाय पिलवाइए।

——

मतिराम

महाकवि मतिराम रीतिकाल के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि ये कविवर चिन्तामणि तथा भूषण के भाई थे। इनका जन्म तिकवाँपुर (जिला कानपुर) में संवत् १६७४ के लगभग हुआ था।

आप बूँदी के महाराव भावसिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे। उन्हीं के आश्रय में इन्होंने 'ललित-ललाम' नामक अलंकार-ग्रन्थ संवत् १७१६ और १७४५ के बीच किसी समय बनाया। इनका 'छन्दसार' नामक पिंगल का ग्रन्थ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनका अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। इनके अतिरिक्त इनके 'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृङ्गार' नामक दो ग्रन्थ और हैं। बिहारी-सतसई के ढंग पर रचित 'मतिराम-सतसई' भी हिन्दी पुस्तकों की खोज में प्राप्त हुई है। इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।

मतिराम एक ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे जिनके काव्य में कृत्रिमता नहीं आने पाई। यद्यपि परिस्थितिवश उन्हें उस समय की परिपाटी का पालन करना पड़ा और फलस्वरूप उनके काव्य पर कुछ अंशों में उस युग की झलक आ गई फिर भी उस युग के अन्य कवियों की अपेक्षा इनके भावों में तथा

भाषा-शैली में विशेष स्वाभाविकता दिखाई देती है।

इन्होंने जो ग्रन्थ लिखे हैं उनमे सबसे सुन्दर तीन ग्रन्थ है—'रसराज' 'ललित-ललाम' तथा 'मतिराम-सतसई'। इन ग्रन्थों में शृंगार रस की ही प्रधानता है।

संसार प्रकृति-पुरुष की केलि-लीला की रंगस्थली है। नारी-पुरुष की प्रीति प्रकृति-पुरुष की बड़ी प्रीति का प्रतिबिम्बमात्र है। शृंगार रस मे इसी प्रीति का प्रतिपादन है। शृंगार रस का स्थायी भाव प्रीति है। अन्य आठ रसो का कोई भी स्थायी भाव प्रेम की बराबरी नही कर सकता। शृंगार रस के आलंबन विभाव मे यह विशेषता है कि नायक-नायिका मे समान आकर्षण एवं समता का भाव उसमे रहता है। तन्मयता, मृदुलता, द्वैतभावशून्यता तथा संसार-सृष्टि-रक्षा के जो दिव्यतम भाव प्रेम मे मौजूद है, वे अन्यत्र कहाँ पाये जा सकते है। हमारी राय मे तो अकेले प्रेम का स्थायी भाव होना ही शृंगार रस को निर्विवाद रसराज पद पर अभिषिक्त करने को समर्थ है।

संयोग शृंगार—

मतिराम ने 'रसराज' शृंगार को ही चुना और उसका ऐसा सरस और सुन्दर वर्णन किया है जो देखते ही बनता है। पति के मुख से नायिका जब अन्य स्त्री का नाम सुनती है, जिससे नायक का उस दूसरी पर अनुरक्त होना समझ पड़ता है, तो वह मान करती है।

एक दिन आषाढ़ की सन्ध्या को दम्पति आनन्द से बैठे थे। बातों ही बातों पति के मुख मे अन्य स्त्री का नाम निकल

गया। बस, सारा आनन्द किरकिरा हो गया। नायिका मान के वश हो बैठी। उसकी भवे तन गईं। आँखों से आँसू की बूँदें गिरने लगीं। हास्य का कहीं पता ही न रहा।

दोऊ अनंद सो आँगन माँझ विराजे असाढ की साँझ सोहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई अनै मत में हँसि कोपि तिया सर चाप सी भौहैं चढाई।
आंखिन ते गिरे आँसू के बूँद सुहास गयो उडी हँस को नाँई"॥

उपर्युक्त छन्द मे जिस घटना का वर्णन है वह प्रावृट् काल की है। मतिराम जी ने भी मान-प्रकाशक भ्रू-संकोच, अश्रुपात तथा हास्याभाव की उपमा ऐसी ही चीजों से दी है, जिनके वर्षा के साथ वर्णन में ही विशेषता है, वर्षा-काल का अपूर्व इन्द्र-धनुष भौंहों के चढ़ने मे देख पड़ा। आँसू क्या गिरे, मेह झरने लगा और पावस के आते न आते जैसे हंस भाग जाते हैं वैसे ही हास्य की भी बिदाई कर दी गई। हास्य और हंस का श्वेत रंग कितना अनुरूप है।

सात्विक भावों मे 'प्रलय' भाव का वर्णन मतिराम ने बहुत अपूर्व किया है। प्रियतम के प्रत्यक्ष होने के बाद से उनकी मधुर मुस्कान नायिका के मन मे ऐसी बस गई है कि वह सदा उसी का ध्यान किया करती है। उसके शरीर की संचलन-शक्ति बन्द हो गई है।

जा दिन ते छबि सो मुस्कान कहूँ निरखे नँदलाल बिलासी,
ता दिन ते मन ही मन मे मतिराम पियै मुस्कानि सुधा-सी।

नैकु निमेष न लागत नैन चकै चितवै तिय देवतिया-सी ,
चन्द्रमुखी न चलै न हलै निरवात निवास मे दीपसिखा-सी ॥

विरह-वर्णन—

कविवर देव तथा बिहारीलाल जी का विरह-वर्णन तो अच्छा है ही, पर मतिराम जी ने भी एतादृश वर्णन मे अपनी प्रतिभा का खासा चमत्कार दिखलाया है ।

विरहिणी नायिका के निकट आने में भी नींद को डर लगता है । वह देखती है कि विरहिणी के नेत्रों से ऐसा अविरल अश्रु-प्रवाह जारी है कि उसे पार किये विना नेत्रों तक पहुँच नहीं । नींद को साहस नहीं कि वह इस गंभीर प्रवाह को पार कर लेगी । विरहिणी को नींद न आने का कैसा मनोरम कारण मतिराम ने ढूँढ़ लिया ।

अँसुअन के परवाह में, अति बूडिये डराति ।
कहा करै नैनानि को नींद नहीं नियराति ॥

व्रज बाला की दशा ग्रीष्म-सरिता के समान हो रही है । निदाघ-काल में सरिता का जीवन (जल) सूखने लगता है । विरहिणी का भी जीवन क्षीण हो रहा है । वर्षा आने पर घन-श्याम (मेघ) रस (जल) बरसा कर सरिता को फिर परिपूर्ण कर देते है । उसी प्रकार घनश्याम (कृष्ण) रस-वृष्टि करके मृतप्राय विरहिणी को फिर जिला सकते है । इस सुन्दर उपमा के सहारे सखी ने कैसा सुन्दर हृदयस्पर्शी विरह-निवेदन किया है ।

"बाल अलप जीवन भई ग्रीषम-सरित-सरूप ।
अब रस परिपूरन करौ तुम घनस्याम अनूप ॥"

काव्य-कौशल—

सत्कवियों की रचना में यह विशेषता होती है कि उनका प्रत्येक पद किसी चमत्कार विशेष का समुत्पादक होता है। मतिराम की प्राय सभी रचनाओं में ऐसा ही चमत्कार है। निम्नलिखित छन्द में काव्य-कौशल देखिए—

"प्रानपियारो मिलो सपने में परी जब नेसुक नींद निहोरे,
नाह को आइबो त्योंही जगाय सखी कह्यो बैन पीयूष निचोरे।
यों मतिराम बढ्यो हिय में सुख बाल के बालम सों दृग जोरे,
जैसे मिही पट में चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरे ॥"

पिंगल—सात भगण और अंत में दो गुरु होने के कारण यह मालती नामक सवैया छन्द है।

रस—आलम्बन विभाव नायक एवं नायिका है। नायिका आगत-पतिका है, क्योंकि उसका पति परदेश से आया है। वह प्रौढ़ा भी है, क्योंकि बालम से दृग मिलाती है। बालम के वियोग से वह दुखित रहती थी और अब प्राणप्यारे के आने से उसके हृदय में सुख बढ़ रहा है, इससे वह स्वकीया सिद्ध होती है। सखी का प्रियागमन का संदेश एवं स्वयं नायिका की आँखों का नायक की से मिलना उद्दीपन विभाव है। जरा-सी नींद पड़ने पर प्राणप्यारे के मिलन का ज्ञान स्वप्न संचारी है। मिलन के बाद हृदय में सुख का बढ़ना मानसिक अनुभाव है। स्थायी

भाव रति है। प्रिय की आगम-कथा सुनते ही जो उसके प्रति प्रेम-भाव उठा है वह मोट्टाइत हाव का रूप है। इस प्रकार पूर्ण संयोग शृंगार का रूप पाया जाता है। इसके सिवा स्वप्न, श्रवण और साक्षात् दर्शन तो छन्द मे स्पष्ट ही है। इस छन्द में अन्य काव्यचातुर्य सम्बन्धी बाते भी द्रष्टव्य है—

गुण = प्रसाद, वृत्ति = कौशिकी, रीति = वैदर्भी. पात्र = वाचक, काव्य = मध्यम, अलंकार = सम, सार, प्रहर्षण, जोकोक्ति, रूपक, हेतु, असंगति, वृत्त्यनुप्रास, संसृष्टि, संकर।

मतिराम जी के उपर्युक्त छन्द की सुष्ठु योजना पर हम पाठकों का ध्यान विशेष रीति से आकर्षित करते हैं, क्योंकि जहाँ तक हमारे ध्यान मे आया है, छन्द मे एक शब्द भी व्यर्थ का नहीं है—व्यर्थ का होना तो दूसरी बात है, ऐसा शब्द भी ढूँढ़ना कठिन है, जिसको हटाकर दूसरा शब्द रखा जा सके और चमत्कार मे कमी न पड़ जावे।

मतिराम की जानकारी—

कवियों का ज्ञान बहुत ही विस्तृत होता है। वे ससार की सभी बातों पर ध्यान रखते है और समय पड़ने पर अपनी इस जानकारी से पूरा लाभ उठाते है। कविवर मतिराम जी शृंगारी कवि थे, उनका ज्ञान खूब विस्तृत था, पर इस ज्ञान की थाह लेने के लिए हमे विवश होकर उनके शृंगार-सरोवर मे डुबकी लगानी पड़ती है। और कोई दूसरा उपाय नहीं है। मतिरामजी के बहुव्यापी ज्ञान के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) समुद्र मे ज्वार-भाटा आता है, परन्तु वह एक अपनी

निर्दिष्ट सीमा से आगे नहीं जाता। वहाँ पर पहुँच कर पानी धीरे-धीरे पीछे को लौट जाता है। सीमा के बाहर होकर वह नहीं बहता है। जहाँ से आता है वहीं को लौट जाता है। उस सीमाप्रान्त को, जिसके आगे ज्वार-भाटा का भय नहीं रहता, 'बेला' कहते हैं। ज्वारभाटे के रूप मे प्रकृति के इस खिलवाड़ से मतिराम परिचित थे। लज्जा से विवश मुग्धा सुन्दरी का विरह बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य है। आँसू उकड़े पड़ते हैं, परन्तु लज्जा के कारण सुन्दरी नेत्रों के आँसू नेत्रों ही मे किसी प्रकार से विलीन कर डालती है। वरुनियों तक आकर आँसू फिर ग़ायब हो जाते हैं। निर्दिष्ट सीमा के आगे आँसुओं का आना बन्द है। ज्वार-भाटा और मुग्धा सुन्दरी के अश्रु-प्रवाह में यह अद्भुत साम्य है। मर्मज्ञ मतिराम इन दोनों भावों का सहयोग निम्नलिखित दोहे मे कैसे अनोखे ढग से कहते हैं—

> पिय-वियोग-तिय दृग जलधि जल-तरंग अधिकाय।
> बरुनि मूल-बेला परसि बहुर्‌यो जाति बिलाय॥

(२) तारों का टूटना अमांगलिक समझा जाता है। वृद्ध-जन अब भी तारे का टूटना देखकर 'शिव शिव' कहने लगते हैं। उल्कापात भावी उत्पात का सूचक माना गया है। नायक को नायिका की विरहावस्था जताने के अवसर पर उन्होंने अपने इस ज्ञान का अच्छा चमत्कार दिखलाया है। नायिका के नेत्रों से आँसू क्या गिर रहे हैं, मानों तारे टूट-टूट कर गिर रहे हैं, जो भावी अनिष्ट के सूचक हैं। कवि के शब्दों में—

हौं न कहत तुम जानिहौ लाल बाल की बात।
अँसुआ उडुगन परत है होन चहत उत्पात॥

स्फुट सूक्तियाँ—

मतिराम की रचनाओं में सुन्दर सूक्तियों की अधिकता है। एक से बढ़कर एक भाव मौजूद हैं। कुछ सूक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती है—

(१) श्रीकृष्ण की मुरली बज रही है। उसका मधुरव कानों में गूँज रहा है। इस सरस नाद का स्वाद उन्हे आनन्दमय अनुभव हो रहा है। उनका तो कहना है कि श्यामसुन्दर के अधरों की माधुरी ही इस नाद रूप में निकल कर चारों ओर व्याप्त हो रही है। कैसा ऊँचा विचार है। कितनी दूर की सूझ है!

सुनि सुनि गुन सब गोपिकनि समुझ्यो सरस सवाद।
कढी अधर की माधुरी ह्वै मुरली को नाद॥

(२) नन्दलाल जी देखिये तो, छत पर यह कैसा सौन्दर्य है? यह स्थिर दामिनी कैसी? क्या चंचला ने चपलता त्याग दी? यह निष्कलंक चन्द्रमा कैसा? क्या चन्द्रमा का कलंक जाता रहा? कैसा अभूतपूर्व व्यापार है। स्थिर दामिनी तथा निष्कलंक चन्द्रमा के समान नायिका का परिचय कवि ने किस हस्तलाघव के साथ दिया है—

अटा ओर नँदलाल उत निरखौ नैक निसक।
चपला चपलाई तजी चन्दा तज्यो कलंक॥

(३) अकेले ब्राह्मण की अपेक्षा यदि ब्राह्मण और ब्राह्मणी

दोनों साथ-साथ खिलाये जायँ, तो क्या बात है। फिर सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण-ब्राह्मणी के न्योते की बात तो और भी पुण्यमयी है। ऐसे मेहमानों के लिए सुधा-भोजन से घटकर पदार्थ भी न होना चाहिए। सखी नायिका को यही सलाह देती है कि वह ऐसा ही न्यौता कर डाले। भोजन तो सहज-सुलभ है, क्योंकि उसके अधरों में ही सुधा-भोग मौजूद है। बस, अधरामृत पान करा दो, ब्राह्मण-भोजन से भी बढ़कर पुण्य होगा। 'दुज' (द्विज) दाँत को भी कहते हैं। सारे दाँत मुख के आश्रित हैं। इसलिए मुख द्विजराज हुआ। 'दुजराजी' (द्विजरानी) दाँतों की पंक्ति को कहेंगे। यों दुजराज और दुजराजिनि का अभिप्राय दंत-संयुक्त मुख हुआ। ऐसे मुख का न्योता उसी अधरामृत-पान का होगा। कैसा चमत्कार-पूर्ण दोहा है—

"अली तिहारे अधर में सुधा-भोग को साज।
दुजराजिनि-जुत न्योतिये लाल वदन दुजराज॥"

भाषा-सौन्दर्य—

भाषा का सबसे प्रधान गुण यह है कि उसके द्वारा लेखक या कवि अपने जो भाव प्रकट करना चाहता हो उनको प्रकाशित करने में वह पूर्णतया समर्थ हो। भाषा के लिए दूसरा आवश्यक गुण यह है कि वह पाठक को लेखक या कवि के अभिप्राय तक झटपट पहुँचा दे। भाषा का तीसरा प्रधान प्रशंसनीय गुण यह है कि वह ठीक मतलब की बात बहुत थोड़े शब्दों में प्रकट कर दे। भाषा में और भी अनेक गुण हैं। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के साथ जब सुकुमारता का

सम्मिलन हो जाता है तो सोने में सुगन्धि की कहावत चरितार्थ होती है। भाषा में आवश्यकता और परिस्थिति के अनुकूल झुक जाने की सामर्थ्य होनी चाहिए।

कविता की भाषा मे कुछ विशेषताएँ हैं। 'कवि-स्वातन्त्र्य' से लाभान्वित होकर कवि लोग अपनी भाषा मे साधारण गद्य की भाषा से कुछ अलगाव कर लेते है। अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते रहना, प्रचलित शब्दों को तोड़-मरोड़ लेना, व्याकरण की उतनी परवा न करना आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो कवियों की भाषा मे पाई जाती है। हिन्दी की व्रज भाषा-कविता मे यह अलगाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

व्रजभाषा कविता मे उपर्युक्त सभी गुण बहुतायत से पाए जाते है, इस भाषा के कवियों मे जहाँ तक भाषा-सौन्दर्य का संबंध है वहाँ तक कविवर मतिरामजी से बढ़कर अच्छी भाषा लिखने मे कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ है। इसके कहने मे हमें कुछ भी संकोच नहीं कि सूर, तुलसी, देव, बिहारी और पद्माकर आदि कोई भी कवि भाषा-सौन्दर्य मे मतिराम को पीछे नहीं छोड़ पाते है। भाषा-सौन्दर्य में उनके बराबर कई कवि अवश्य है; पर उनसे बढ़कर कोई भी नही है।

मतिरामजी का भाषा-सौन्दर्य पाठकगण निम्नलिखित अवतरणों मे सावधानी से देखें—

(१) कवि नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करना चाहता है। वह चाहता है कि सौन्दर्य का परिचय ऐसे कौशल से दिया जाय कि पूरे सौन्दर्य का वर्णन भी न करना पड़े और मतलब

भी पूरा बन जाए। मतिरामजी ने इस सौन्दर्य-वर्णन को जिस भाषा द्वारा प्रकट किया है, वह इसे पूर्ण रूप से प्रकाशित करने मे समर्थ हुई है—

कुदन को रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई।
आँखिन मे अलसानि, चितौनि मे मंजु विलासिन्ह की सरसाई॥
को बिनमोल विकात नही मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यो-ज्यो निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यो-त्यो खरी निकरै-सी निकाई॥

सुन्दरता-पूर्वक थोड़े शब्दों में सब कुछ कह डाला गया। काव्य-शास्त्र का सुप्रबन्ध, सुष्ठु योजना और प्रसाद-गुण सभी एक साथ उपस्थित हो गये।

कुछ पद्यांश और लीजिए—

(१) आजु को रूप लखे ब्रजराज को आँखिन को फल आजु ही पायो।
(२) तैं बरने निज बैननि सो सखि! मैं निज बैननि सो मनु देखे।
(३) और भटू न भई कछु बात गई इतने ही मे नीद निगोडी।
(४) कौन तिन्हे दुख है जिनके तुमसे मनभावन छैल-छबीले।
(५) कोऊ कितेक उपाव करौ कहूँ होत है आपने पीय पराये।

इन पद्यांशों में जो सरसता भरी हुई है, उसके साक्षी सहृदयों के हृदय ही हैं।

अलंकार-चमत्कार—

कवितागत शब्दार्थ मे जो चमत्कार है वह रसादिकों के कारण है। पर इस चमत्कार के अतिरिक्त भी एक प्रकार का चमत्कार कविता मे सुलभ है। इस चमत्कार को काव्य-शास्त्र में अलंकार नाम से पुकारते है।

मतिरामजी के निम्नलिखित अलंकारों के लक्षण और उदाहरण बड़े ही अच्छे बन पड़े हैं—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, अतिशयोक्ति और आक्षेप।

ये सब मुख्य अलंकार हैं। इनमें प्रत्येक अलंकार के कई भेद भी हैं। अमुख्य अलंकारों के भी लक्षण और उदाहरण मतिराम जी ने परम मनोहर दिये हैं। उनमे कुछ के नाम ये है—विषम, विकल्प, यथासंख्य और निरुक्ति।

(१) विषम—जहाँ पर कारण के विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ द्वितीय विषमालंकार होता है। मतिराम जी का इस अलंकार का उदाहरण बड़ा ही अनूठा बन पड़ा है। नायिका ने श्वेत साड़ी धारण की है। बस, इसके प्रभाव से सपत्नियों के शरीर मे श्यामता छा गई है। इसी श्वेत साड़ी के प्रभाव से श्यामसुन्दरलाल (अनुराग) रंग मे रँग गये हैं।

सेत सारी ही सो सब सौतै रँगी स्याम रंग,
सेत सारी ही सो रँगे स्यामलाल रंग मे।

(२) अर्थान्तरन्यास का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

रावरे नेह को लाज तजि अरु गेह के काज सबै बिसराये।
डारि दियो गुरु लोगनि को डरु गाँव चबाय मै नाम धराये॥
हेत कियो हम जो तौ कहा तुम तौ मतिराम सबै थहराये।
कोऊ कितेक उपाय करौ, कहूँ होत है आपने पीय पराये॥

इसमें अन्तिम पद में जिस सामान्य का कथन किया गया है, उसका समर्थन पहले तीन पदों मे कही गई बातों से किया

गया है । अन्तिमपद में जो झिड़की है वह बड़ी सुकुमार, मृदुल और रसीली है ।

मतिरामजी के अधिकांश छन्दों में कला का नैपुण्य तो बहुत अधिक पाया जाता है, पर तन्मयता की उचित मात्रा उन के थोड़े ही छन्दों मे पाई जाती है । इनके बहुत से शृंगार-वर्णनों में अश्लीलता की स्पष्ट झलक दिखलाई पड़ती है । उनकी कविता मे प्राकृतिक वर्णन बहुत ही कम पाए जाते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मतिराम जी रीतिकाल के प्रधान शृंगारी कवियों मे से एक प्रमुख कवि थे जिनकी कविता भाषा, भाषा अनुमति, कल्पना और विचार सभी दृष्टियों से उच्चकोटि की है।

[मतिराम ग्रंथावली की भूमिका से सम्पादित]

रसखान

मियाँ रसखान का रस इतना चोखा उतरा है कि रसिक उसको छककर पीने पर कभी अघाते नहीं हैं। ऐसे रसखान का जीवन भी कैसा रसमय रहा होगा इसका अनुमान तो किया जा सकता है पर इसका विवरण प्रस्तुत करना अभी असम्भव है। कारण यह कि जो कुछ अभी उनके सम्बन्ध मे जाना गया है वह इतना अल्प है कि उसके आधार पर कोई सच्ची जीवनी खड़ी नहीं हो सकती। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में उनके विषय मे जो कुछ कहा गया है वह वह सच्चा नहीं कहा जा सकता। इसका प्रधान कारण यह है कि स्वयं रसखान जी ने 'प्रेम-वाटिका' में अपने सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है उसमे उसका मेल नहीं खाता। 'वैष्णवन की वार्ता' से प्रकट होता है कि रसखान पठान थे, किसी साहूकार के बेटे पर आसक्त थे और थे श्रीनाथ जी के अनन्य भक्त। इसमे से कोई भी बात रसखान की किसी भी रचना से पुष्ट नहीं होती। स्वयं रसखान का कहना है—

'देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छोरि रसखान॥ ४८॥
प्रेम निकेतन श्रीवनहिं, आइ गोवर्धन-धाम।
लह्यो सरन चित चाहि कै, जुगल सरूप ललाम॥ ४९॥
तोरि मानिनी ते हियो, फोरि मोहिनी-मान।
प्रेमदेव की छविहि लखि, भय मियाँ रसखान॥ ५०॥

विधु-सागर-रस-इन्दु सुभ, बरस सरस रसखानि।
'प्रेम-वाटिका' रचि रुचिर, चिर हिय हरख बखानि॥

अरपी श्री हरि चरन जुग, पदुम पराग निहार।
विच रहि यामे रसिक वर मधुकर-निकर अपार॥

—प्रेम-वाटिका।

इस कथन मे कही से यह ध्वनित नही होता कि रसखान पठान थे। बादशाह वंश की ठसक पर ध्यान दे तो प्रकट होता है कि रसखान बादशाह वंश के थे। बादशाह वंश का सीधा अर्थ पठान वंश न होकर मुगल किंवा तुर्क वंश ही होगा। कारण यह कि मुग़ल बादशाह ही बादशाह की उपाधि से इतिहास मे ख्यात रहे है। पठान तो सुलतान ही कहे जाते थे। पठानों मे शेरशाह सूर ने भी अपने को 'शाह' ही कहा और उसके वंश मे यही उपाधि चलती भी रही। ऐसा मानने का एक दूसरा कारण भी है। 'बिधु-सागर-रस-इन्दु' से सिद्ध ही है कि इस 'प्रेम-वाटिका' की रचना संवत् १६७१ में हुई जो निश्चय ही जहाँगीर का शासनकाल है। इस समय यदि किसी बादशाह वंश की ठसक हो सकती है तो बादशाही मुग़ल वंश की ही। रही 'देखि गदर हित साहिबी' की उलझन, तो इसके बारे मे भी कहा जा सकता है कि यह साहिबी की लड़ाई निज वंश की ही लड़ाई थी, जो या तो अकबर और जहाँगीर की लड़ाई रही होगी या जहाँगीर और खुसरो की। इनमें से पहली संवत् १६५८-५९ में हुई और दूसरी संवत् १६६३-६४ मे। उचित तो यह प्रतीत होता है कि इसमे जहाँगीर और खुसरो का ही संघर्ष

देखा जाय। क्योंकि वही इसके अधिक निकट ठहरता है और होता भी कुछ पहले से उग्र है।

हाँ, 'दिल्ली नगर मसान' की उलझन कुछ सहसा सुलझती हुई नहीं दिखाई देती है। हमारी समझ मे मसान का सम्बन्ध इस गदर से नहीं है, प्रत्युत स्वयं दिल्ली नगर से है। यह आवश्यक नहीं कि ग़द्दार दिल्ली नगर मे ही ग़दर मचा उसका मसान बना दे तभी रसखान दिल्ली नगर को 'मसान' कहे। सच तो यह है कि दिल्ली नगर जैसा राजवंशों का 'मसान' कोई दूसरा नगर नहीं। कौरवों से लेकर पठानों तक न जाने कितने राजवंश दिल्ली नगर में नष्ट हो चुके थे। अत रसखान का दिल्ली नगर को मसान कहना ठीक ही था। सच पूछिये तो रसखान को बादशाह वंश से ही नहीं दिल्ली नगर से भी घृणा हो गई थी। और यह इसी घृणा का परिणाम है कि उनको दिल्ली छोड़कर गोवर्धन धाम की यात्रा करनी पड़ी और 'जुगल सरूप' की शोभा मे अपने आप को रमा देना पड़ा। 'दिल्ली नगर मसान' मे किसी 'मरी' का संकेत हो तो कोई अचरज नहीं।

रसखान ने 'प्रेम-निकेतन श्रीवन' का नाम लिया और नाम लिया गोवर्धन धाम का भी। साथ ही शरण और युगल-स्वरूप का भी निर्देश किया। किन्तु कहीं भी इसका संकेत तक नहीं किया कि उन्होंने श्रीनाथजी को अपना इष्टदेव बनाया अथवा गोस्वामी श्री विट्ठलदास जी की शरण ली। भूलना न होगा कि श्रीनाथजी के जिस बालरूप की वल्लभ-सम्प्रदाय मे इतनी

प्रतिष्ठा है, रसखान की रचना में उसका सर्वथा अभाव है। अस्तु, कोई कारण नही कि हम केवल वार्ता मे लिखित होने के कारण रसखान को श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय का शिष्य समझें। रसखान यदि इस कुल के भक्त होते तो इसका उल्लेख भी अवश्य करते। जब ऐसा कही कुछ भी नहीं है तब वार्ता को ही अक्षरशः प्रमाण क्यों माने।

अब रही रसखान की आसक्ति। सो प्रकट ही है कि रसखान 'मानिनी का नाम' लेते है किसी मानी का मान नहीं। इतना ही नहीं, रसखान ने जिस बादशाही ठसक का ऊपर उल्लेख किया है वह तो कभी किसी बनिये के बेटे की चाकरी मे व्यक्त नही होती, नही, 'वार्ता' ने यहाँ भी कपोल को ही पुराण मान लिया है। रसखान ने 'तोरि मानिनी ते हियो' मे अपनी स्थिति को आप ही स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने अपनी मानिनी नायिका से अपना हृदय तोड़ लिया और उस मोहिनी के मोहने के अभिमान को फोड़ भी दिया। उन्होंने उसे प्रत्यक्ष बता दिया कि जिस छवि पर तुम इतरा रही हो वह वस्तुतः तुम्हारी नहीं है। वह सचमुच जिसकी छवि है हम उसकी छवि-छटा को देख चुके है और अब तो उसके प्रसाद से हम स्वयं रसखान हो गये है, रस की खानि और रस के खान भी। बस, हम उसी प्रेम-देव के पुजारी है जिसकी छवि के छींटे पर तुम इतनी इतरा रही हो।

रसखान को रसखान शब्द इतना प्रिय था कि उन्होंने इसकी व्याख्या स्वयं ही कर दी है—

'बैने वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बैन सो सानी।
हाथ वही उन गात सरैं अरु पाँइ वही जु वही अनुजानी॥
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यो रसखान वही रसखानि जु है रसखान सो है रसखानी॥'

रसखान ने अन्तिम चरण में स्पष्ट कर दिया कि सचमुच वही रस की खानि है जो वस्तुतः रस की खानि है और रसखान भी तभी रसखान है जब वह भी वही रसखानि हो जाय जो सचमुच रसखानि है। रसखान ने मनमानी करनेवाली मानिनी से मन मोड़कर जिस रसखानि में उसको लगाया था उसी रसखानि के हो रहे, इसमें संदेह नहीं। रसखान ने सच कहा है कि मन के एक होने से ही सच्चा प्रेम नहीं है। नहीं, सच्चा प्रेम तो तब समझना चाहिये जब तन भी एक हो जाय—

दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबै द्वै तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि॥३४॥

जैसे—

अकथ कहानी प्रेम की, जानत लैली खूब।
दो तनहूँ जहँ एक भे, मन मिलाय महबूब॥३३॥

लैली और उसके महबूब की बात तो तब रही जब मियाँ रसखान कोरे मियाँ रहे। अब तो उनकी स्थिति यह है—

जदपि जसोदा नन्द अरु, ग्वाल बाल सब धन्य।
पै जा जग में प्रेम को, गोपी भई अनन्य॥२८॥

वा रस की कछु माधुरी, ऊधो लही सराहि।
पावै बहुरि मिठास अस, अब दूजो को आहि॥
श्रवन, कीरतन दरस नहिं जो उपजत सोइ प्रेम।
सुद्धासुद्ध विभेद ते, द्वै विध ताके नेम॥
स्वारथ मूल असुद्ध त्यो, सुद्ध स्वभाव ऽनुकूल।
नारदादि प्रस्तार करि, कियो जाहि को तूल॥

सारांश यह कि रसखान नारदी भक्त थे श्रीवल्लभी नहीं। कुछ भी हो रसखान की सच्ची कामना है—

मानुस हौ तो वही 'रसखान' फिरौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौ तो वही गिरि को जो धर्यो पुर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौ तो बसेरो करौं नित कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन॥
—रसखान, पदावली १।

कहा जाता है कि रसखान श्रीमद्भागवत का फारसी में अनुवाद पढ़ रहे थे और उसी मे उनको कृष्ण के प्रति गोपियों का जो भाव मिला वही उनको अपना इष्ट दिखाई दिया। यह कथा सत्य दिखाई देती है। 'प्रेम-वाटिका' मे रसखान ने गोपियों का नाम जिस आदर के साथ लिया है सो तो है ही। उनका यह भी अनूठा उल्लास है—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहूँ सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
'रसखान' कबौं इन आँखिन तै व्रज के बन, बाग, तडाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥

जिससे ध्वनित होता है कि रसखान सचमुच 'कलधौत के धाम' को छोड़ कर 'करील की कुंजों' में दौड़ पड़े थे। प्रसंगवश इतना और जान लेना चाहिए कि श्रीमद्भागवत का सर्वप्रथम फ़ारसी में अनुवाद अकबर के ही समय में हुआ था और किया था सम्भवतः फ़ैज़ी ने सन् १५९५ ई० के पूर्व ही, क्योंकि यही उसका निधन-सन् है। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि रसखान ने 'प्रेम-वाटिका' मे अपने विषय मे जो कुछ कहा है उससे यही सिद्ध होता है कि वे मुगल वंश के ही थे। और मुगल दरबार की व्रज-भाषा-प्रियता से भली भाँति प्रभावित थे।

रसखान के बारे में जो कुछ कहा गया है उमसे इतना तो स्पष्ट ही है कि रसखान लौकिक प्रेम की ओर से अलौकिक प्रेम की ओर मुड़े और अन्त मे उसी के हो भी रहे। उनका एक दोहा है।

> आनँद अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
> कै वह विषयानन्द, कै, ब्रह्मानन्द बखान॥

—प्रेम-वाटिका।

अस्तु, हम देखते है कि रसखान की रचना मे भी यह सूफी रंग रह रह कर गोचर होता रहता है। सूफी शायरी मे 'दीदार' और 'दीवाना' भरा रहता है। रसखान के यहाँ भी बिलोकना' और 'बिकाना' भरा है, साथ ही दर्शन और बावलापन भी। झाँकना और झँखना भी रसखान मे कम

नहीं है। सच तो यह है कि रसखान ने व्रज की लीला को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना इस 'बिलोकने' और 'बिकाने' को। मुसकान का भी जैसा वर्णन रसखान ने किया है वैसा किसी और ने नहीं। 'अहीर रसखान' की मुसकान तो देखिए। कैसा रंग ला रही है—

अबहीं गई खरिक गाय के दुहाइबे को,
बावरी है आई डारि दोहनी यो पान की।
कोऊ कहै छरी कोऊ भौन परी डरी,
कोऊ कहै मरी गति हरी अँखियान की॥
सास व्रत ठाने नन्द बोलत सयाने,
धाय दौरि दौरि जानै मानै खोरि देवतान की।
सखी सब हँसे मुरझान पहिचान कहूँ,
देखी मुसकान वा अहीर रसखान की॥५३॥

बीती सो तो बीत गई, आगे की भी दशा यह है कि—

कान दै अँगुरी रहिहौ जब ही मुरली धुनि मंद बजै है।
मोहनी ताननि सो 'रसखान' अटा चढ़ि गोधन गै है तो गैहै।
टेरि कहौं सिगरे व्रज लोगन कालिह कोऊ कितनो समुझै है।
माई री वा मुख की मुसकान सह्मारन जैहै न जैहै न जैहै॥६५॥

मुसकान तो मुसकान ही, थोड़ी हँसी भी फाँसी का काम कर जाती है। देखिये 'बिलोकन' भी यहाँ विराजमान है—

बंक बिलोकन है दुख-मोचन दीरघ लोचन रंग भरे हैं।
घूमत वारुनी पान किये जिमि झूमत आनन रंग ढरे हैं॥

गंडन पै झलकै छबि कुंडल नागरि नैन विलोकि भरे हैं।
'रसखान' हरे ब्रज बालनि को मन ईषद हाँसी की फाँसी परे हैं ॥३१॥

वारुणी आये और कोई सूफी खुमार की चर्चा न करे यह कैसे हो सकता है। निदान रसखान भी कहते हैं—

आज सखी नँद-नन्दन री तकि ठाढी है कुंजन की परछाही।
नैन बिसाल को जोहन को सर बेधि गयो हियरा जिय माहीं॥
घायल घूमि खुमार गिरी 'रसखान' सम्हार रह्यो तन नाहीं।
तापर वा मुसकान की डौंडी बजी ब्रज मे अबला कित जाही ॥३३॥

'अबला कित जाही' का संकट तो दूर भी हो सकता है किन्तु कही जायँ तो किस रूप मे जायँ। होता तो यह है—

खंजन नैन फँदे पिंजरा छबि नाहिं रहै थिर कैसेहूँ माई।
छूट गई कुलकानि सखी 'रसखान' लखी मुसकानि सुहाई॥
चित्र लिखीसी भई सब देह, न बैन कढ़ै मुख दीन्हे दुहाई।
कैसी करौ जित जाउँ तितै सब बोलि उठै यह बावरी आई ॥३०॥

तो भी सन्तोष की बात यह है—

आज सखी इक गोप कुमार ने रास रच्यो इक गोप के द्वारे।
सुन्दर बानिक सो 'रसखान' बन्यो वह छोहरा भागि हमारे॥
ये विधना जो हमे हँसती अब नेक कहूँ उतको पग धारे।
ताहि बदौ फिर आवै घरै बिन ही तन औ मन जोवन वारे ॥४१॥

अनुमान खरा उतरा। परिणाम यह हुआ कि—

जा दिन ते वह नन्द को छोहरो या वन धेनु चराइ गयो है।
मीठिहि ताननि गोधन गावत बैन बजाइ रिझाइ गयो है॥

वा दिन सो कछु टोना सो कै रसखान हिये मे समाइ गयो है।
कोउ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रज वीर बिकाइ गयो है॥

सारा ब्रज बिका तो बिका पर ब्रज-बाला बिक कर भी नहीं बिकी। उसने तो ब्रज-जीवन से बदला भी कस कर लिया। बात यह हुई कि—

एक समै इक सुन्दरी को ब्रज-जीवन खेलत दीठि पर्यो है।
बाल प्रवीन प्रवीनता कै सरसाय के काँध लै चीर धर्यो है॥
यो रस ही रस ही रसखान सखी अपनो मन भायो कर्यो है।
नन्द के लाडिले ढाँक दे सीस हहा मेरो गोरस हाथ भर्यो है॥

ब्रज-जीवन ने भी समझा कि चेष्टा कुछ ठिकाने की हुई है। जैसा समझा; किया भी वैसा ही। उधर उसने भी देखा कि बात कुछ अटपटी हो रही है। उसने जो कुछ किया यह था—

दूर ते आप दिखाय अटा चढ़ जाय गह्यो तहँ दूर ते बारो।
चित्त कहूँ चितवै कितहूँ हित औरसो चाहि करै चख चारो॥
रसखान कहै इहि बीच अचानक जाय सिढी चढ सास पुकारो।
सूख गई सुकुमार हियो हनि सैनन सो कह्योकान्ह सिधारो॥

कान्ह सिधार तो गए पर चित्त उनका इधर ही रहा। एक दिन और भी पते की सूझी—

मोहन के मन भाय गयो इक भाव सो ग्वालिनि गोधन गायो।
ताते लग्यो चट चौहन सों हरवाय दै गात सो गात छुवायो॥
रसखान लही यह चातुरता चुपचाप रही जब लौं घर आयो।
नैन नचाय चितै मुसकाय सुओट है जाय अँगूठो दिखायो॥

दिखाने को अँगूठा तो दिखा दिया पर साथ ही ऐसी लगी कि फिर दूर न रह सके। सच है—

नैनन बंक बिसाल के बानन झेलि सकै वह कौन नवेली।
बेधत है हिय तीषण कोर सो मार गिरी तिय केतिक हेली॥
छोडे नही छिनहूँ रसखानि सु लागी फिरै द्रुम सो जिमि बेली।
रौर परी छबि की ब्रज-मण्डल कुण्डल गण्डन कुन्तल केली॥

उधर से भी कुछ सिखावन मिली। उससे कहा गया—

बारही गोरस बेच री आज तूँ माय के मूड चढै कित मौडी।
आवत जात लौ होयगी साँझ भटू जमुना भतरौड लौ औंडी॥
एते मे भेंटत ही रसखान ह्वै है अँखियाँ बिन काज कनौड़ी।
एरी बलाय लौ जायगी बाजि अबै ब्रजराज सनेह की डौंडी॥

किन्तु इससे होता क्या है? रोकने से कहीं ऐसी चाट रुकती है। मुठभेड़ हो ही गई और उसने भी कुछ मुस्करा कर कहा ही—

छीर जो चाहत चीर गहे अजू लेहु न केतक छीर अँचैहौ।
चाखन के हित माखन माँगत खाहु न माखन केतिक खैहौ॥
जानत हौ जिय की रसखान सुकाहे को एतिक बात बढैहौ।
गोरस के मिस जो रस चाहत सो रस कान्ह जू नेकु न पैहौ॥

कहने को कह तो दिया पर स्वयं उसकी दशा यह हुई—

प्रेम पगे जू रँगे रँग साँवरे मानै मनाये न लालची नैना।
धावत है उत ही जित मोहन रोके रुकै नहीं घूँघट ऐना॥
कानन लौ कल नाहिं परै सखि प्रीति मे भीजे सुने मृदु बैना।
रसखान भई मधु की मखियाँ अब नेह को बंधन क्यो हूँ छुटैना॥

जब किसी प्रकार नेह का बन्धन छूट ही नहीं सकता तब इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है—

मोर की चन्द्रिका मौर लसै दिन दूलह है अलि नंद को नंदन ।
श्रीवृषभानुसुता दुलही लही जोरी बनी विधिना सुख कंदन ॥
रसखान न आवत मोपै कह्यो कछु दोऊ फँदे छबि प्रेम के फंदन ।
जाहि विलोके सभी सुख पावत ये ब्रजजीवन दु:ख निकंदन ॥१४॥

'लली' 'लला' का विवाह हो गया तो—

वह सोई हुती परजंक लली लला लीनो सुआय भुजा भरिकै ।
अकुलाइ के चौंकि उठी सु डरी निकरी चहै अकिन ते फरिकै ॥
झटका-झटकी में फट्यो पटुका दरकी अँगिया मुकता झरिकै ।
मुख बोल कढ़ै रिस सो रसखान हटो जु लला निविया धरिकै ॥८ ॥

इस प्रसंग मे भूलना न होगा कि 'हटो जू लला' का अर्थ खरा हटना ही नही होता । रसखान का इस विषय मे कहना भी है—

प्रेम पगी बतियो दुहुँधाँ की दुहूँ को लगी अति ही चितचाहीं ।
मोहिनी मंत्र बही कर तंत्र हहा पिय की तिय की नहि नाही ॥६८॥

'बसीकर मन्त्र' के लिए इतना और जान ले—

अँखियाँ अँखियाँ सो सकाय मिलाय हिलाय रिझाय हियो भरियो ।
बतियाँ चितचोरन चेटक सी रस चारु चरित्रनि ऊँचरिबो ॥
रसखान के प्रान सुधा भरिबो अधरान पै त्यो अधरा धरिबो ।
इतने सब मैन के मोहनी जन्त्र पै मन्त्र बसीकर सो करिबो ॥८२॥

संयोग के उपरान्त वियोग होता ही है । वियोग में सबसे बड़ी विपदा यह होती है कि सुख की स्मृति ही दु:ख की

जननी होती है। देखिए किस व्यथा से बीती बात जी से बाहर निकल रही है—

काह कहूँ रतियाँ की कथा बतियाँ कहि आवत है न कछू री।
आई गोपाल लियो भरि अङ्क कियो मन भायो पियो रसकूँ री॥
ताही दिना सों गडी अँखियाँ रसखान मेरे अँग अँग मे पूरी।
पै न दिखाई परै अब बावरौं दैके वियोग बिथा की मजूरी॥

वियोग ही नही वियोग के साथ ही सौत का विरोग भी बड़ा भारी है। मन-भावन आने को तो नित्य कहता है पर आता कभी नहीं है। फेरी की बात भी व्यर्थ रही। जैसे कभी उसका दिन आता ही नहीं। तभी तो किस विषाद से कहती है—

काह कहूँ सजनी सग की रजनी नित बीतै मुकुन्द हो हेरी।
आवन री.. कहै मनभावन आवन की न कबौ करी फेरी॥
सौतिन भाग बढ्यो ब्रज मे जिन लूटत है निस रङ्ग घनेरी।
सो रसखान लिखी विधना मन मारिकै आपु बनी हो अहेरी॥

बॉके-बिहारी की छबि ऐसी नही कि वह कही बँध कर रहे। उसको तो देखते ही पातक भाग जाता है, फिर भला कोई अपने पुण्य-प्रसाद को ऑख भरकर क्यों नही देखे। देखिए न कैसा मोहन रूप है—

अंग ही अंग जराव जरी अरु सीस बनी पगिया जरतारी।
मोतिनि माल हिये लटकै लटुआ लटकै सब घूँघरवारी॥
पूरन पुन्य हु तैं रसखानि ये मोहनी मूरति आनि निहारी।
चारो दिसा के महा अघ हाँके जो झाँके झरोखे मे बाँके विहारी॥

यदि यह रूप ठीक-ठीक आँख में न बसा हो तो दूसरे रूप को लीजिए और आँख खोलकर इसका भी पान कीजिए। क्योंकि—

सोहत है चंदवा सिर मोर के तैसिये सुंदर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल विराजत तैसी हिये वनमाल लसी है॥
रसखान विलोकत बौरी भई दृग मूँदि के ग्वालि पुकारि हंसी है।
खोलरी घूँघट खौलौ कहाँ वह मूरति नैनन मांझ बसी है॥

घूँघट खुले या न खुले पर बात तो खुल कर ही रहेगी। सुनिये न, जवाब भी कैसा हो रहा है—

एरी आज कालिह सब लोक लाज त्याग दोऊ,
सीखे है सबै विधि सनेह सरसायबो।
यह रसखान दिन द्वै मे बात फैलि जैहे,
कहाँ लौ सयानी चन्द हाथनि छिपायबो।
आज हौ निहार्‍यो बीर निपट कलिंदी तीर,
दोउन को दोउन सो मुरि मुसकायबो।
दोऊ परै पैयाँ दोऊ लेत है बलैयां,
उन्हे भूलि गई गैयाँ इन्हें गागरि उठायबो॥

ध्यान देने की बात है कि रसखान का मन जितना किशोर-लीला मे रमा है उतना पौगड कुमार और बाल-लीला मे नहीं। लीला के रूप मे रसखान ने जो कुछ कहा है उसमे उतना रस नहीं जितना उनकी अन्य रचना में। और यदि किसी लीला मे उनका मन रमा भी है तो दान-लीला मे ही।

इस लीला में कृष्ण की पूँजी की बढ़िया गति बनी है। गोपी कहती है—

दानी भये नये माँगत दान सुनै जो पै कंस तो बाँधिके जैहौं।
रोकत हो मग मे रसखान पसारत हाथ कछू नहि पैहौं॥
टूटै छरा बछरा अरु गोधन जो धन है सु सबै घर दैहौं।
जैहै अभूषण काहू सखी को तो मोल छटा के लला न बिकैहौं॥

रास और चीर-हरण को भी यों ही कुछ चलता-सा कर दिखाया है। हाँ, कालिय-दमन-लीला मे माता के हृदय को भली भाँति खोल कर दिखा दिया है—

आपनो सो ढोटा हम सब ही को जानत हैं,
दोऊ प्रानी सब ही के काज नित धावही।
ते तौ रसखान अब दूरि तें तमासो देखें,
तरनि-तनूजा के निकट नहिं आवही॥
आन दिन बात अनहिंतुन सों कहौ कहा,
हितू जे जे आये तेऊ लोचन दुरावही।
कहा कहौ आली खाली देत सब ठाली हाय,
मेरे बनवाली को न काली ते छुडावही॥

रसखान ने न जाने क्या समझ कर कछनी काछे हुए कृष्ण को भी खूब सराहा है। सम्भव है पहले की ठसक काम कर गई हो। कहते हैं—

कंस के कोप की फैलि गई जबही ब्रजमंडल बीच पुकार है।
आय गयो तबही कछनी कसि कैं नटनागर नन्द कुमार है॥

द्वै रदको रद खैंचि लियो रसखानि तबै मन आयो विचार है।
लागी कुठौर लई लख खेंचि कलंक तमाल ते कीरति डार है॥

रसखान ने बाँसुरी के चमत्कार को ही डट कर दिखाया है परन्तु कहीं उसको नाद-ब्रह्म के प्रतीक के रूप में अंकित करने का प्रयत्न नहीं किया है। उनकी दृष्टि में तो—

दूध दुह्यो सीरो पर्यो तातो न जमायो वीर,
जामन दयो सो धर्यो धर्योई खटायगो।
आन हाथ आन पाँय सब ही के तब ही तें,
जब ही तें रसखान तानन सुनायगो॥
ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसेई तरुनि वारी,
कहिए कहाँ री सब ब्रज बिललायगो॥
जानिये न आली यह छोहरा जसोमति को,
बाँसुरी बजायगो कै बिस बगरायगो॥

कूबरी पर भी रसखान की पैनी दृष्टि पड़ी है। उनकी गोपिका कहती है—

होती जु कुबरी ह्याँ पै सखी भरि लातन मूका बकोटती केती।
लेती निकाल हिये की सबै नक छेदिकै कौडी पिराइ कै देती॥
ऐती नचाइकै नाच वा रांड को लाल रिझावन को फल देती।
सेती सदा रसखान लियो कुबरी के करेजनि सूल से भेती॥

किन्तु यह तो मन की बात रही। मन में जो बीत रही है सो तो कुछ और है और इसका उपाय भी है यह—

काहू को माई कहा कहिये सहिये सु जोई रसखान सहावै।
नेम कहा जब प्रेम कियो अब नाचिये सोई जो नाच नचावै॥

चाहति हैं हम और कहा सखि क्योंहूँ कहूँ पिय देखन पावै।
चेरिहि सो जु गुपाल रच्यो तौ चलोरी सबै मिलि चेरि कहावै॥

कुबरी के साथ-साथ ऊधो पर भी रसखान की दृष्टि पड़ी है। गोपियाँ ऊधो के पीछे नहीं पड़तीं। उनके योग पर झंखती और यह खड़ी प्रार्थना करती हैं—

सारकी सारी सो भारी लगै धरिहै कहाँ सीस बघंबर दैया।
दासी जु सीख दई सो दई पै लई गहि क्यो रसखान कन्हैया॥
योग गयो कुबजा की कलान मे री कब ऐहै जसोमति छैया।
हाहा न ऊधो कुढाय हमे अब ही कह दै ब्रज बाजै बधैया॥

हिन्दी-कविता मे काग का भी बड़ा माहात्म्य है। प्रायः उससे शकुन का काम लिया गया है। रसखान ने उसके भाग्य को भी सराहा है।

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरै अँगना पग पैंजनियाँ कटि पीरी कछोटी॥
वा छबि को रसखानि विलोकत वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिए हरि हाथ सो लै गयो माखन रोटी॥

प्रकृति की ओर रसखान की दृष्टि नहीं गई है। व्रज की भूमि का वर्णन भी उन्होंने कुछ विशेष रूप मे नही किया है। हाँ, उन्होंने होली का जो वर्णन किया है उसमे भी प्रकृति का दर्शन नही किया है। उनके सामने तो बस फागुन का यह रूप है—

आई खेलि होरी ब्रजगोरी वा किसोरी संग,
अङ्ग अङ्ग रंगनि अनंग सरसाइगो।

कुंकुम की मार वाषै रंगनि उछार उडै,
बुक्का औ गुलाल लाल लाल बरसाइगो ॥
छोडै पिचकारिनी धमारिनी बिगोइ छोडै,
तोडै हियहार धार रंग बरसाइगो।
रसिक सलोनो रिझवार रसखान आजु,
फागुन मे औगुन अनेक दरसाइगो ॥

अथवा—

लीने अबीर भरे पिचका रसखान खड्यो बहु भाव भर्यौ जू।
मार से गोपकुमार कुमार वे देखत ध्यान टर्यो न टर्यौ जू ॥
पूरब पुन्यन दाँव पर्यो अब राज करो उठि काज करौ जू।
अंक भरौ निरसक उन्हे यहि पाख पतिव्रत ताख धरौ जू ॥

यह और कुछ नहीं, उनकी फारसी रुचि का प्रसाद है। फारसी का भाव-पक्ष ही प्रबल है, विभाव-पक्ष नहीं।

रसखान मे रस ही नहीं, कला भी है। उस कला को दिखाने के पहले बताना यह है कि रसखान के यहाँ मान को बहुत थोड़ा स्थान है। रसखान को किसी का मान नहीं भाता। उसी को तोड़कर तो ब्रज मे आ पडे थे? इसीसे उनका कहना है—

मान की औधी है आधी घरी अरु जो रसखान डरै डरके डर।
तोडिये नेह न छोडिये पाँ परौ ऐसे कटाच्छ महा हियरा हर ॥
लाल गुपाल को हाल विलोकि री नेक छुवै किन दै करसो कर।
ना कहिवै पर वारति प्रान कहा लख वारि है हाँ कहिवै पर ॥

कहा नहीं जा सकता कि 'हाँ' का पुरस्कार क्या मिलेगा, पर जो मिलेगा वह होगा अपूर्व ही।

अलंकारों के विषय मे विशेष रूप से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रही। जो छन्द प्रसंगवश जहाँ-तहाँ उद्धृत किये गये हैं उनमें आवश्यकता से अधिक अलंकार आ गये है। तो भी दो एक और उदाहरणों का आ जाना विषय के अनुरूप ही होगा। रसखान को यमक बहुत प्यारा है—

मोर पखा सिर ऊपरी राखि हौ गुज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढि पितम्बर लै लकुटी बन गावत गोधन सग फिरौंगी॥
भावतो मोहि वही रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरली-धर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

यमक का एक दूसरा भी रूप होता है जिसे सिंहावलोकन कहते हैं। रसखान ने इस पर भी एक छन्द लिखा है—

बजी है बजी रसखान बजी सुनि कै अब गोप कुमारि न जी है।
न जी है कदाचित् कामिनी कोऊ जु कान परी वह तान अजी है॥
अजी है बचाव को कौन उपाव तियान पै मैन ने सैन सजी है।
सजी है तो मेरी कहा बस है जब बैरिनि बाँसुरी फेरि बजी है॥

रूपकातिशयोक्ति की छटा देखनी हो तो रसखान का यह छन्द लेना चाहिए। इसमे शब्दालंकार की भी बहार है—

सोई हुती पिय की छतियाँ लगि बाल प्रवीनि महा मुद मानै।
केस खुले छहरैं बहरैं कहरैं छबि देखत मैन अमानै॥

वा रस में रसखान पगी रति रैन जगी अँखियाँ अनमानै।
चन्द पै बिम्ब औ बिम्ब पै कैरव कैरव पै मुकतान प्रमानै॥

उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

मोहन जू के वियोग की ताप मलीन महा द्युति देह तिया की।
पंकज सो मुख गो मुरझाये लगै लपटै विरहागि हिया की॥
ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसी सु तनी तरकी अँगिया की।
यों जगि जोति उठी तनकी उसकाय दई मनो बाती दिया की॥

इस उत्प्रेक्षा की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। किस प्रकार प्रियतम के आने की सूचना से अन्धकार मे प्रकाश फैल जाता है, इसका यह दिव्य उदाहरण है।

रसखान मे शब्दों की झंकार सुननी हो तो उनका यह छन्द देखें—

बिहरै पिय प्यारी सनेह सजे छहरै चुनरी को झवा झहरै।
सिहरैं नवजोबन रंग अनङ्ग सुभङ्ग अपांगनि की गहरै॥
बहरै रसखान नदी रस की घहरैं बनिता कुलहू भहरैं।
कहरैं विरहीजन आतप सो लहरैं लली लाल लिए पहरै॥

रसखान ने भाव की दृढ़ता दिखाने तथा उसको दूर तक पहुँचाने के लिए शब्दों को दुहराया क्या तेहराया तक है जिससे उनकी रचना मे बल आ गया है। प्रमाण के लिए यह सवैया लीजिए—

समझी न कछू अजहूँ हरि सो ब्रज नैन नचाय नचाय हँसै।
नित सास की सीरी उसासन सो दिन ही दिनमाय की कान्ति नसै॥

महुँ ओर बबा की सौं सोर सुनै मन मेरेउ आवत रीस कसै।
पै कहा कहौ वा रसखान विलोकि हियो हुलसै हुलसै हुलसै॥

समझ मे नही आता कि रसखान को क्या पड़ी थी कि वे भी ऐसी रचना के चक्कर में पड़ गये। कहीं 'वस्ल' की भावना ने तो जोर नहीं मारा और उनसे भी अन्त मे लिखा ही लिया—

बागन काहे को जाओ पिया घर बैठे ही बाग लगाय दिखाऊँ।
एडी अनार सी मोर रही बहियाँ दोउ चंपे सी डार नवाऊँ॥
छातिन मे रस के निबुआ अरु घूँघट खोलि कै दाख चखाऊँ।
टाँगन के रसके चसके रति फूलनि की रसखान लुटाऊँ॥

रसखान की भाषा के बारे मे मौन रहना ही अच्छा है। बोलती हुई भाषा के बारे में अपनी ओर से कुछ बोलना ठीक नहीं होता। रसखान की भाषा चलती हुई, सरस, सरल और सुबोध ब्रज की भाषा है और है सर्वथा स्वच्छ, निर्मल और निर्दोष। शब्द छलकते हुए अपने रूप मे चले जाते हैं। उनको बनने-बिगड़ने की आवश्यकता नही पड़ती और वाक्य मे जहाँ के तहाँ अपने आप बड़े ढब से बैठते रहते है। कही-कही फारसी और अरबी के शब्द भी आ जाते है। हाँ, आ जाते हैं बुलाये अथवा लाये नहीं जाते। भाषा की दृष्टि से रसखान की भाषा प्रमाण मानी जाती है, यद्यपि उसका सम्पादन अभी तक ठीक-ठीक नहीं हो पाया है।

मुहावरों के प्रयोग में भी रसखान बड़े ही निपुण है। कहते है—

'बैस चढे घर ही रह बैठ अटान चढ़े बदनाम चढैगो'

एक चढ़े से कितना और कैसा काम लिया गया है, इसे कोई भी सहृदय देख सकता है। एक सवैया लीजिए और देखिए कि इसमे मुहावरे के कारण कितना भाव भर गया है—

हेरति बारहिं बार उतै यह बावरी बाल कहाँ धौ करैगी।
जो कहुँ देखि पर्‌यो रसखान तौ क्योंहू न वीर री धीर धरैगी॥
मानि है काहू की कानि नही जब रूप ठगी हरि रंग ढरैगी।
याते कहौ सिख मानि भटू वह हेरनि तेरेइ पैड परैगी॥

उक्ति के रूप मे 'चंद हाथनि छिपाइबो' का संकेत कर देना ही पर्याप्त है। तात्पर्य यह कि रसखान की भाषा भाव के सर्वथा अनुकूल और समर्थ है। उन्हें कभी अर्थ की चिन्ता नही होती। रसखान जी की बात को जी मे पैठाना जानते है और जानते है जी में पैठना भी। रसखान के शब्दों मे बल है और अक्षरों में गति।

हाँ, तो रसखान की उदार दृष्टि मे पुराण को भी स्थान है और कुरान को भी। परन्तु उनका लक्ष्य है सदा—प्रेम ही। रसखान कहते है—

'शास्त्रन पढि पंडित भये, कै मौलवी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यो नही, कहा कियो रसखान॥

—प्रेम-वाटिका।

और ब्रह्म का साक्षात्कार रसखान को कहाँ हुआ था, इसे भी जान लें। स्वयं लिखते हैं—

ब्रह्म मै ढूँढ्यो पुरानन गायन वेद रिचा पढी चौगुने चायन ।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहुँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ॥
ढूँढत ढूँढत ढूँढि फिर्यो रसखान बतायो न लोग लुगायन ।
देख्यो दुर्यो वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन ॥

इस ब्रह्म को और भी रँग-रूप मे देखना हो तो रसखान से देखना सीखे और पालन तथा संहार के द्वेष को मिटा दें। रसखान का सच्चा उल्लास है—

इक ओर किरीट लसै दुसरी दिसि नागन के गन गाजत री।
मुरली मधुरी धुनि ओठन पै तुरही कलनाद सो बाजत री ॥
रसखान पितम्बर एक कँधा पर एक बघंबर छाजत री ।
अरी देखहु संगम लै बुडकी निकसे वर वेष विराजत री ॥

स्मरण रहे, रसखान की दृष्टि में हर और हरि में कोई भेद नहीं। तभी तो कहते है—

यह देखि धतूरे के पात चबात सुगात मे धूरि लगावत है ।
चहुँ ओर जटा अटकी लटकैं सुभ सीस फनी फहरावत हैं ॥
रसखान जोई चितवै चित दै तिनके दुख द्वन्द्व भजावत है ।
गज खाल कपाल की माल धरे हरि गाल बजावत आवत हैं ॥

शिव जो इस प्रकार विष खाते फिरते और मग्न रहा करते हैं उसका कारण क्या है ? यदि आप न जानते हों तो रसखान से पूछ देखे—

बैद की औषधि खाइ कछू न करौ वह संजम री सुनि कोसै।
तेरोइ पानी पियैं रसखान सजीवन जानि लहे सुख तोसैं ॥

एरी सुधामयी भागीरथी सब पथ्य कुपथ्य बनै तोहि पोसै।
आक धतूरो चबात फिरै विष खात फिरैं सिव तेरे भरोसै॥

यह सब तो हुआ किन्तु यह रहस्य न खुला कि ब्रह्म ने रूप धर कर यह सब कुछ किया क्यों? अरे! इसी को खोलने के हेतु तो रसखान को यह रचना पड़ा—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद लै सुक व्यास रटै पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

अस्तु, रसखान की खुली घोषणा और दृढ विश्वास है कि कृष्ण के होते किसी का डर नही।

द्रौपदी औ गनिका गज गीध अजामिल सो कियो सो न निहारो।
गौतम गेहिनी कैसी तरी प्रहलाद को कैसो हर्यो दुख भारो।
काहे को सोच करै रसखान कहा करि है रविनंद बिचारो।
कौन की संक परी है जु माखन चाखन हारो है राखन हारो॥

निदान रसखान का निनाद है—

कंचन के मन्दिरनि दीठि ठहराति नाहि,
सदा दीपमाला लाल रतन उजारे सो।
और प्रभुताई सब कहाँ लौ बखानौ,
प्रतिहारिनि की भीर भूप टरत न द्वारे सो॥
गंगा जू मे न्हाय मुक्ताहल हू लुटाय,
बेद बीस बार गाय ध्यान कीजत सकारे सो॥

ऐसे ही भये तौ कहा दीख रसखान जु पै,
चित्त दै न कीन्हीं प्रीति पीत पटवारे सो ॥

बस, 'पीतपटवारे' से प्रीति करो, यही रसखान का उपदेश है और यही है उनकी कविता का मधुर रस भी। कहिए, क्या इच्छा है ? है न रसखान सचमुच रसखान ही।

नरोत्तमदास

राम और कृष्ण दो ऐसे महान् प्रकाश-स्तम्भ हैं जो भारतीय साहित्य को दीर्घ काल से अनुप्राणित करते आ रहे है। भक्ति-युग का साहित्य तो राम और कृष्ण की विभूतियों का गान करने के कारण ही इतना स्तुत्य एवं स्थायी बना है। राम की अपेक्षा कृष्ण के प्रति कवियों ने अपने भावों को अधिक समर्पित किया है। सम्भवतः इसका प्रधान कारण यही है कि राम-काव्य मे जिस मर्यादा का पालन अनिवार्य हो गया था उसका निर्वाह करने की न तो सब कवियो को इच्छा ही होती थी न सब कवियों में इतना सामर्थ्य ही था। कृष्ण-काव्य मे मर्यादा का ऐसा कठोर बन्धन नही था।

हिन्दी-साहित्य मे कृष्ण-भक्ति की रचना करनेवाले प्रथम उच्चकोटि के कवि विद्यापति हुए। ये संस्कृत के प्रसिद्ध गीति-काव्यकार, भक्त एवं शृङ्गारी कवि, जयदेव के परम अनुयायी, थे। फलतः ये अपनी भक्ति को शृङ्गार-प्रधान बनाने से न बच सके। भक्ति-काल मे होनेवाले सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों को भी कृष्ण का लोकरंजक रूप ही अधिक आकर्षक लगा। उन्होंने कृष्ण के बाल-जीवन तथा यौवन के सुन्दरतम चित्र उपस्थित किये। इन सब चित्रो का आधार श्रीमद्भागवत ही था।

श्रीमद्भागवत भाव-रत्नों का रत्नाकर है। कृष्ण का चरित्र उसमें वर्णित है। उसकी एक-एक बात को लेकर सरस काव्य-रचना करनेवाले अनेकानेक कवि हुए हैं। सूर और तुलसी से कुछ ही पूर्व कविवर नरोत्तमदास ने कृष्ण-चरित्र के एक भाव-रत्न को लेकर और अपनी प्रतिभा के द्वारा उसे और भी चमका कर 'सुदामा-चरित' के रूप में प्रस्तुत किया। कृष्ण की दीन सुदामा के प्रति निष्कपट, निःस्वार्थ एवं अकृत्रिम मैत्री का वर्णन इस छोटी-सी पुस्तक मे जिस सुन्दर ढंग से हुआ है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। यदि सूर कृष्ण के वात्सल्य का वर्णन करके अमर हो गये है तो नरोत्तमदास कृष्ण के मैत्री-भाव का वर्णन करके सदा-सर्वदा के लिए अमर हो गये है।

कविवर नरोत्तमदास के जीवन के सम्बन्ध मे अन्य कवियों के समान ही कुछ ज्ञात नहीं हुआ। इसके सम्बन्ध मे विशेष शोध की आवश्यकता है। केवल इतना ज्ञात हो सका है कि सं० १५५० से सं० १६०२ तक ये जीवित अवश्य थे। ये सीतापुर जिलान्तर्गत कस्बा वाड़ी के निवासी थे। सुदामा-चरित के अतिरिक्त ध्रुवचरित और विचारमाला नामक इनकी दो पुस्तकें और सुनी जाती है परन्तु प्राप्त नही।

सुदामा-चरित अत्यन्त सरल तथा छोटी रचना होने पर भी काव्यगत गुणों के कारण ही इतना प्रसिद्ध है। यद्यपि कृष्ण और सुदामा की मित्रता ही इस काव्य का केन्द्र-बिन्दु है परन्तु जैसा इस पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है इसमे सुदामा की दीन-दशा का ही विशेष उल्लेख है। परन्तु क्या कवि ने सुदामा

की दीनता का चित्र अंकित करके एक व्यक्ति-विशेष की दीनता को ही पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया है। यह समझना तो कवि के काव्य को न समझना ही होगा। जिस प्रकार 'गोदान' का 'होरी' पीड़ित किसान-वर्ग का पूर्ण चित्र उपस्थित करता है उसी प्रकार निर्धनता से पीड़ित सुदामा निर्धनता का ही साकार रूप धारण कर पाठक के सामने उपस्थित होता है। हमारे देश मे निर्धनता की जो दशा आज है वही सोलहवीं शताब्दी मे थी। तुलसी ने भी कवितावली के उत्तरकाण्ड में अनेक छन्दो मे इसका संकेत किया है। जिस प्रकार आज हमारे समाज की अर्थ के आधार पर यह दशा हो रही है कि—

"जग पीडित है अति दुख मे
जग पीडित रे अति सुख मे"

उसी प्रकार उस युग में भी एक ओर वैभव दिखाई देता था तो दूसरी ओर निर्धनता। जिस प्रकार हमे आज फटे चीथड़े लपेटे हुए, लकुटिया टेक कर आता हुआ भिक्षुक दिखाई देता है उसी प्रकार का चित्र सुदामा के रूप मे नरोत्तम ने अंकित किया। कविवर 'निराला' ने भिखारी का जो शब्द-चित्र अंकित किया है उससे सुदामा के शब्द-चित्र को मिला देखिए। दोनों मे कितनी समता है !

"वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनो मिल कर है एक,

चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को।
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।"

ठीक यही दशा सुदामा की थी। जिस समय दीनता की मार उनसे न सही गई, जब बच्चे भूख से तड़पने लगे, शीत से सारी रात्रि नींद ही नहीं आती थी तब अपनी पत्नी के अनुरोध से तंग आकर सुदामा कृष्ण के पास चला। क्या उस समय सुदामा की दशा निराला के भिखारी से कुछ कम थी? दीनता सुदामा का रूप धारण कर वैभव के सामने आ खड़ी हुई थी। द्वारपाल ने कृष्ण के समीप जाकर द्वार पर खड़े सुदामा का जो परिचय दिया है, वह देखिए—

सीस पगा न झगा तन मे प्रभु! जानै को आहि! बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी-दुपटी अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा॥
द्वार खडौ द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥

सुदामा को सिर पर बिना पगड़ी बाँधे, नंगे पैर अपने मित्र के घर क्यों जाना पड़ा? निर्धनता के कारण उसके घर की दशा इस स्थिति को पहुँच चुकी थी जिसमे जीवित रहना सम्भव ही न था। आज उनकी पत्नी ने घर की वास्तविक स्थिति उनके सामने स्पष्ट कर दी थी—

कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौ दधि-दूध-मिठौती।
सीत बितीत भयौ सिसियातहि हौ हठती पै तुम्है न हठौती॥

जौ जनती न हितू हरिसों तुम्हें काहे को द्वारिका पेलि पठौती ।
या घर ते न गयौ कबहूँ पिय ! टूटो तवा अरु फूटी कठौती ॥

उस समय भी आज के समान न जाने कितने घर थे जिनमे 'टूटा तवा और फूटी कठौती' के सिवाय कुछ न था। डाक्टर सत्येन्द्र के शब्दों मे—"इस दारिद्रय मे वह रंग-राम की कल्पना कहाँ ! वह मुरली की ध्वनि, वह छेड़-छाड़, वह आँख-मिचौनी, वह लुका-छिपी कहाँ—दरिद्रता के मरुस्थल मे मरूद्यान की ही कल्पना हो सकती है—यमुना-गंगा के शस्य-श्यामल पुलिनों के इन्द्रधनुषी सुगन्ध पारिजातो का तो स्वप्न भी नही हो सकता।

प्रत्येक साहित्य-स्रष्टा का अपना दृष्टिकोण होता है। इसमे कोई सन्देह नही कि उस दृष्टिकोण मे परिस्थितियो से रग आ जाता है। यह रग साहित्य-विश्लेपक शास्त्रीय-प्रयोगशाला मे पृथक् कर सकता है। यह रग उसके व्यक्तित्व, उसको सृजन शक्ति के शील और उसकी प्रतिभा की गति से भिन्न होता है। यह उसका सन्देश नही कहा जा सकता। कला को कला के लिए लिखा जाय तो भी यह व्यक्तित्व लुप्त नही हो सकता। उस दशा मे तो कविता और भी व्यक्तित्व-प्रधान हो जाती है, और भी Personal हो जाती है। यही कला मे सन्देश, दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है।"

यद्यपि सुदामा-चरित मे नरोत्तम ने सुदामा के दैन्य-चित्रण के द्वारा तत्कालीन दीनता का चित्र उपस्थित किया फिर भी कृष्ण की सुदामा के प्रति मैत्री ही इस काव्य का मुख्य भाव

है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह काव्य कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत है। जहाँ और कवियों ने कृष्ण-चरित की अन्य विशेषताओं को व्यक्त किया है वहाँ नरोत्तम ने कृष्ण के चरित्र की यह महान् विशेषता लेकर काव्य-रचना की है। मित्रता का जो अपूर्व आदर्श इसमें रखा गया है वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

मित्रता का प्रायः उन्ही मे अच्छा निर्वाह होता है जो आयु, धन, विद्या आदि मे समान होते है। कृष्ण और सुदामा इस नीति के अपवाद है। एक ओर कृष्ण त्रिलोकी के नाथ है और दूसरी ओर सुदामा दीनता का प्रतीक। ऐसी दशा मे कृष्ण सुदामा को मित्र-रूप मे अपना सकेंगे इसमे पाठक को ही नहीं स्वय सुदामा को भी एक बार सन्देह हो उठता है।

संसार मे यह व्यवहार देखने मे आता है कि वैभव-सम्पन्न व्यक्ति छोटों से मित्रता रखना अच्छा नहीं समझते। लघु व्यक्तियों की लघुता से उन्हे भय लगता है। भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका मे भगवान् से यही विनय की है—

हौं सनाथ ह्वै हो सही तुमहुँ अनाथपति
जो लघुतहि न भितैहौ।

सुदामा को भी गोस्वामीजी के समान कृष्ण के प्रति इस शंका का होना स्वाभाविक था कि कहीं राज-समूह से परिवेष्टित त्रिलोकीनाथ मुझे देख संकोच से सिकुड़ न जायँ। कहाँ मै, कहाँ वे।

द्वार खरे प्रभु के छरिया तहँ भूपति जान न पावत नेरे।
पाँव सुपारी तै देखु विचारि कै भेट कौ चारिन चाउर मेरे॥

परन्तु सुदामा की यह शंका उस समय निर्मूल सिद्ध हो गई जब कृष्ण ने सहज प्रेम से उसे गले लगा लिया।

किसी के प्रेम की परख तब होती है जब प्रिय के आते ही उसके नेत्र हर्ष से चमकने लगते है, उनसे प्रेम-रस स्रवित होने लगता है। जो देखते ही हर्षित न हो उसके यहाँ तो कभी जाना ही न चाहिए—

आवत ही हरसे नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह॥

कृष्ण तो सुदामा का नाम सुनते ही हर्ष से नाचने लगे। सिंहासन छोड़ द्वार पर दौड़ गये। मित्र को पाकर ऐसे हर्ष-विभोर हो गये मानो कोई खोई हुई निधि आज पुनः प्राप्त हो गई हो।

बोल्यो द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँडे' सुनि,
छाँडे राज-काज ऐसे जी की गति जाने को!
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पायँ,
भेटे लपटाय करि ऐसे दुख साने को!!

उनके नेत्रों से तो प्रेम-रस प्रवाहित हुआ, वह आज तक कहीं दिखाई नहीं दिया। उस प्रेम-रस से केवल सुदामा के चरणों की धूलि ही नहीं धुली अपितु उसके अन्तस्तल की वेदना सदा के लिए तिरोहित हो गई। प्रेम का ऐसा आदर्श किस पाठक और श्रोता के हृदय में आश्चर्यपूर्ण प्रसादन न करेगा?

ऐसे बिहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।
हाय ! महादुख पायौ सखा, तुम आए इतै न किते दिन खोए ॥
देखि सुदामा की दीन-दसा करुना करि कै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुओ नहिं नैननि के जल सों पग धोए ॥

कृष्ण ने केवल इतना ही नहीं किया, विनोद के द्वारा सुदामा के प्रति ऐसा अपनापन दिखाया कि सुदामा यह अनुभव ही न कर सके कि वह दीन है और कृष्ण राजा है। बाल्य-जीवन की स्मृति कितनी मधुर होती है, यह सभी जानते हैं। कृष्ण और सुदामा सहपाठी थे। एक बार सुदामा ने गुरु-पत्नी के दिये हुए चने कृष्ण से छिपा कर अकेले ही खा लिये थे। इस समय सुदामा को संकोच-वश सुशीला के दिये चावलों को छिपाते देख कृष्ण ने सुदामा पर व्यंग्य कस ही दिया—

आगे चना गुरु-मातु दए ते लए तुम चाबि हमैं नहिं दीने।
स्याम कह्यौ मुसुकाय सुदामा सों चोरी की बानि मे हौजू प्रबीने ॥
पोटरी काँख मे चाँपि रहे तुम खोलत नाहिं सुधा-रस-भीने।
पाछिली बानि अजौं न तजी तुम तैसेई भाभी के तंदुल कीने ॥

अन्त में कृष्ण ने सुदामा को इतना धन प्रदान किया कि उसे अपने समान ही बना लिया। सुदामापुरी को उन्होंने द्वारिकापुरी के समान ही धन-वैभव से पूर्ण कर दिया।

सुन्दर महल मनि-मानिक जटित अति,
सुबरन सूरज-प्रकास मानौ दै रह्यौ।
ऐसी दसा फिरी जब द्वारिका-दरस पायौ,
द्वारिका तें सरस सुदामापुर ह्वै रह्यौ ॥

सुदामाचरित संकेतात्मक प्रणाली में रचित खंड-काव्य है। हिन्दी साहित्य में केशव को छोड़कर कोई दूसरा ऐसा कवि नहीं हुआ जिसने इतने सुन्दर सम्वाद लिखे हों। आरम्भ में सुदामा तथा उसकी पत्नी सुशीला का संवाद बहुत ही प्रवाह-पूर्ण और सरस है। पति-पत्नी के तर्क-वितर्क की सुन्दर झाँकी भी उसमें मिलती है। सुदामा का गार्हस्थ्य-जीवन निर्धनता के कारण अत्यन्त दुःखमय था। एक दिन अनायास ही सुशीला के सम्मुख सुदामा के मुख से दीर्घकाल का गुप्त रहस्य प्रकट हो गया।

कह्यो सुदामा एक दिन, कृष्ण हमारे मित्र।

यह सुनकर सुदामा की पत्नी का सुदामा से अपने सखा कृष्ण के पास जाकर सहायता-प्राप्ति का यत्न करने का आग्रह करना स्वाभाविक ही था। उसने कहा—

महाराज जिनके हितू, यदुकुल-कैरव चन्द।
ते दारिद संताप ते, रहे न किमि निरद्वन्द॥

उसने सुदामा से बहुत अनुरोध किया कि वे कृष्ण के पास जावें। उसे विश्वास था कि—

द्वारिका के गये हरि दारिद हरैंगे पिय,
द्वारिका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं।

परन्तु सुदामा सुशीला की बात को इतनी शीघ्रता से मानने वाले न थे। मनुष्य का यह सहज स्वभाव होता है कि वह जिसे अपने से छोटा, अपने से मूर्ख समझता है उसकी शिक्षाभरी

बातें सुनकर उसे झुँझलाहट हो आती है। सुदामा को भी झुँझलाहट आ गई। वे बोले—

> भिच्छुक हौ सिगरे जग को तिय,
> ताको कहा अब देति है सिच्छा।
> औरनि को धन चाहिये बावरि,
> बाँभन कौ धन केवल भिच्छा॥

परन्तु सुशीला को इस झुँझलाहटभरे उत्तर से संतोष नहीं हुआ। उसके हृदय में रह रह कर यही प्रश्न उठ रहा था—

> श्री यदुनाथ से जाके हितू सो,
> तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै॥

इसीलिए उसने कृष्ण के पास जाने का आग्रह न छोड़ा। तब तो सुदामा की झुँझलाहट ने क्रोध का रूप धारण कर लिया—

> छाँडि सबै जक तोहि लगी बक,
> आठहु याम यहै जिय जानी।
> जातहि दैहै लदाय लढाभरि,
> लैहौं लदाय यहै जिय जानी॥

परन्तु तू इतना नहीं जानती कि—

> पैहै कहाँ ते अटारी अटा,
> जिनके विधि दीन्ही है टूटी-सी छानी।
> जो पै दरिद्र लिख्यो है लिलार,
> तौ काहू पै मेट्यौ न जात अजानी॥

परन्तु सुशीला ने आज त्रिया-हठ धारण किया है। उसकी

तो एक ही रट है। वह तो सुदामा से एक ही प्रश्न का उत्तर चाहती है—

> जौ पै सब जनम या दरिद्र ही सतायौ तौ पै,
> कौन काज आइहै कृपानिधि की मित्रई।

अन्त में विवश होकर सुदामा को द्वारिकापुरी जाना ही पड़ा।

पति-पत्नी के इस सम्वाद में स्थान स्थान पर अनेक भाव दिखाई देते है। सुदामा पति है, वह समझता है सुशीला पत्नी है—दासी है इससे भी बढ़कर पैर की जूती है, डाट-फटकार से चुप हो जायगी। वह उसे 'बावरी' और 'अजानी' बताकर उसका मुख बन्द कर देना चाहता है, परन्तु सुशीला पतिव्रता है, नारी है। सरलता से अपना आग्रह, अपनी प्रार्थना सुदामा से कहती ही जाती है। इस सम्वाद से कथा प्रवाहपूर्ण भी हो गई है और रोचक भी।

सम्वाद के अतिरिक्त कवि ने कथा को रुचिकर बनाने के लिए एक अन्य तत्व को भी अपनाया है। यह तत्व है—कुतूहल। जिस समय फटे चीथड़े पहने हुए सुदामा ने द्वार-पाल से यह कहा कि कृष्ण मेरे मित्र है, उन्हे मेरे आने की सूचना दो, उस समय वह आश्चर्य से देखता रह गया और उसके पश्चात् सुदामा का नाम सुनते ही कृष्ण की जो दशा हुई उसे देखकर तो वह चित्रलिखित-सा ही रह गया। सुदामा का जैसा सत्कार हुआ उससे सुदामा को यह विश्वास हो गया कि विदा करते समय कृष्ण अवश्य ही उसे अपार धन-

राशि देंगे। परन्तु जब उसने देखा कि कृष्ण ने उसे कुछ भी न दिया तो उसके आश्चर्य और दुःख का ठिकाना न रहा। सोचने लगा—

वह पुलकनि वह उठि मिलनि, वह आदर की भाँति।
यह पठवनि गोपाल की, कछू न जानी जाति॥

उस समय उसे सुशीला पर फिर झुँझलाहट हो आई—

हौं कब इत आवत हुतौ, वाही पठ्यौ ठेलि।
कहिहौं धनि सों जाइकैं, अब धन धरौ सकेलि॥

नरोत्तम ने इस प्रकार सुदामा को विदा कराके अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। कृष्ण को जो कुछ देना था वह दे चुके और सुदामा या इस काव्य के पाठक को इसका भान ही न हुआ। जब सुदामापुरी में पहुँचकर 'दीठिपरी इक बार ही हय-गयन्द की भीर' तब सुदामा को कितना कुतूहल हुआ होगा यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

भौन बिलोकिबे को मन लोचत सोचत ही सब गाँव मँझायौ।
पूछत पाँडे फिरे सबसों पर झोपरी को कहुँ खोज न पायौ॥

घर पहचानना तो दूर रहा वे बिचारे अपनी पत्नी को भी न पहिचान सके। अलंकारों से अलंकृत उनकी सुन्दरी पत्नी ने द्वार पर आकर—

कही बाँभनी आयकै, 'यहै कंत निज गेह

तब सुदामा को इस पर विश्वास ही न हुआ। उन्होंने कहा—

टूटी सी मड़ैया मेरी परी हुती याही ठौर,
तामैं परो दुःख काटौं कहाँ हेम-धाम री।
जेवर-जराऊ तुम साजे प्रति अंग-अंग,
सखी सोहैं संग वह छूँछी हुती छाम री॥
तुम तौ पटम्बर ओढे हौ किनारीदार,
सारी जरतारी वह ओढ़े कारी कामरी।
मेरी वा पँड़ाइन तिहारी अनुहारी ही पै,
विपदा सताई वह पाई कहाँ पामरी॥

इस प्रकार कवि ने पाठक की उत्सुकता को अन्त तक बनाये रखा है।

सुदामा-चरित मे नीति-सम्बन्धी सूक्तियों का भी कवि ने अच्छा प्रयोग किया है। मित्रता के लिए यह आवश्यक है कि जिस मित्र के यहाँ जाकर भोजनादि से सम्मानित होवे यदा-कदा उसे भी अपने घर बुलाकर भोजन करावे। इसी से सुदामा कहते हैं—

मित्र के जौ जेंइये तौ आप हू जेवाइये।

ऋण या अन्य किसी प्रकार की सहायता के लिए मित्र के सामने हाथ पसारना अच्छा नहीं लगता। लेन-देन के पीछे मित्रता समाप्त हो जाती है। इसमें स्वार्थ का भी आभास मिलता है। इसीसे सुदामा को अपने मित्र कृष्ण के पास इन विपत्ति के दिनों में जाने की इच्छा नहीं थी। वह कहता है—

दुख-सुख के दिन तौ अब काटे हो बनैंगे भूलि,
विपत परे पै द्वार मित्र के न जाइये॥

सुदामा-चरित की भाषा ब्रज है। भाषा परिमार्जित है और प्रसादगुण से पूर्ण है। शब्दाडम्बर का कहीं नाम भी नहीं है। सरल-हृदय पात्रों से जैसी सरल भाषा का प्रयोग अपेक्षित था वैसी ही भाषा का प्रयोग कवि ने किया है। कहीं २ शब्द तुकान्त के लिए तोड़े भी गये हैं पर स्वाभाविक रीति से भाषा में प्रवाह भी है और कोमल-कान्त-पदावली भी। कवि ने कवित्त, सवैये तथा दोहे ही चुने हैं जो एक खंड-काव्य के लिए उपयुक्त ही है।

सुदामाचरित की श्रेष्ठता का आभास इस बात से ही मिल जाता है कि इस छोटी-सी रचना के कारण ही नरोत्तम ने इतनी अधिक ख्याति प्राप्त कर ली। हिन्दी-साहित्य में इतनी कम मात्रा में काव्य-रचना करके इतनी अधिक ख्याति प्राप्त करनेवाला केवल एक ही कवि और हुआ है—बिहारी। परन्तु बिहारी और नरोत्तम के काव्य में एक महान् अन्तर है। बिहारी के काव्य का रसास्वादन प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता। विदग्ध जन ही उनकी मार्मिक रचना के मर्म को समझ सकते हैं जब कि सुदामाचरित को साधारण शिक्षित व्यक्ति भी पढ़ और समझ सकते हैं।

शिवसिंह सेंगर ने सुदामाचरित के विषय में बहुत ठीक ही लिखा है—"सुदामा-चरित बनाया मानों प्रेम-समुद्र बहाया है।" वस्तुतः यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है।